"जैनविजय" प्रिन्टिग प्रेस, खपाटिया चकला-सूरतमें
मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

सौ० सविताबाई- -स्मारक ग्रंथमाला नं० ७

हमारी स्वर्गीय धर्मपत्नी सौ० सविताबाईका वीर सं० २४५६) भादों वदी १ को सिर्फ २२ वर्षकी अल्प आयुमें एक पुत्र चि० बाबूभाई और एक पुत्री चि० दमयंतीको ४ और २ वर्षके छोड़कर पीलियाके रोगसे स्वर्गवास होगया था तब उनके स्मरणार्थ उस समय २६१२) का दान किया गया था। जिसमेंसे २००) स्थायी शास्त्रदानके लिये निकाले थे जिसकी आयसे प्रति वर्ष एक२ ग्रंथ नवीन प्रकट करके 'दिगम्बर जैन' या 'जैन महिलादर्श' के ग्राहकोंको उपहारमें दिया जाता है।

अब तक इस ग्रंथमालासे निम्न लिखित ६ ग्रंथ प्रकट हो चुके हैं जो जैन महिलादर्श या दिगम्बर जैनके ग्राहकोंको भेंट दिये जाचुके हैं।

१–ऐतिहासिक स्त्रियाँ–(ब्र० पं० चंदाबाईजी कृत) ।।)
२–संक्षिप्त जैन इतिहास–(द्वि० भाग प्र० खण्ड) १।।)
३–पंचरत्न–(बा० कामताप्रसादजी कृत) ।=)
४–संक्षिप्त जैन इतिहास–(द्वि० भाग द्वि० खण्ड) १=)
५–वीर पाठावली–(बा० कामताप्रसादजी कृत) ।।)
६–जैनत्व–(रमणीक मी० शाह वकील-कृत, गुजराती) ।=)

और यह ७वा ग्रन्थ संक्षिप्त जैन इतिहास तृतीय भाग—प्रथम खड (बा० कामताप्रसादजी कृत) प्रकट किया जाता है जो 'दिगंबर जैन' पत्रके ३० वें वर्षके ग्राहकोंको भेट बाटा जा रहा है तथा जो 'दिगबर जैन' के ग्राहक नहीं है उनके लिये कुछ प्रतिया विक्रयार्थ भी निकाली गई है। आशा है कि बहुत खोज व परिश्रमपूर्वक तैयार किये गये ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थोंका जैन समाजमें शीघ्र ही प्रचार होजायगा। इस ऐतिहासिक ग्रन्थके लेखक **बा० कामताप्रसादजीका** दि० जैन समाजपर अनन्य उपकार है, जो वर्षोसे अतीव श्रमपूर्वक प्राचीन जैन साहित्यको खोजपूर्वक प्रकाशमें लारहे हैं।

यदि जैन समाजके श्रीमान् शास्त्रदानका महत्व समझें तो ऐसी कई स्मारक ग्रन्थमालायें निकल सक्ती हैं और हजारों तो क्या लाखों ग्रन्थ भेट स्वरूप या लागत मूल्यसे प्रकट होसकते हैं, जिसके लिये सिर्फ दानकी दिशा ही बदलनेकी आवश्यक्ता है। अब द्रव्यका उपयोग मंदिरोंमें उपकरण आदि बनवानेमे या प्रभावना बटवानेमें करनेकी आवश्यक्ता नहीं है लेकिन द्रव्यका उपयोग विद्यादान और शास्त्रदानमें ही करनेकी आवश्यक्ता है।

सूरत
वीर स० २४६३
आश्विन वदी ३

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
प्रकाशक।

आभार।

"संक्षिप्त जैन इतिहास" के पहले दो भाग प्रगट होचुके हैं। आज उसका तीसरा भाग पाठकोंके हाथोंमें देते हुए हमें प्रसन्नता है। यह तीसरे भागका पहला खण्ड है और इसमें दक्षिण भारतके जैनधर्म और जैन संघका इतिहास—पौराणिककालसे प्रारंभिक ऐतिहासिक कालतकका संकलित है। सम्भव है कि विद्वान् पाठक पुरातन वार्ताको इतिहास स्वीकार न करें परन्तु उन्हें स्मरण होना चाहिये कि भारतीय शास्त्रकारोंने पुराण वार्ताको भी इतिहास घोषित किया है।

जबतक इस पुराण वार्ताके विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध न हो तबतक उसे मान्य ठहराना हमारा कर्तव्य है। आखिर प्राग् ऐतिहासिक कालके इतिहासको जाननेके यही तो एक मात्र साधन हैं—उन्हें हम भुला कैसे दें! उनके एवं अन्य साक्षीके आधारसे हमने दक्षिणभारतमें जैनधर्मका अस्तित्व अतिप्राचीन सिद्ध किया है। आशा है विद्वज्जन हमारे इस मतको स्वीकार करनेमें संकोच नहीं करेंगे।

इस अवसरपर हम इन पुराण और शास्त्रकारोंका आभार हृदयसे स्वीकार करते हैं। साथ ही अन्यान्य सम्माननीय लेखकोंके भी हम उपकृत हैं जिनकी रचनाओंसे हमने सहायता ग्रहण की है।

यहांपर हम [illegible], श्री जैनसिद्धांत भवन–आरा और सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापड़ियाको भी नहीं भुला सकते। उन्होंने आवश्यक साहित्य जुटाकर हमारे कार्यको सुगम कर दिया जिसके लिये वह हमारे हार्दिक धन्यवादके पात्र हैं। आशा है कि जबतक कोई इससे भी श्रेष्ठ जैन इतिहास न रचा जाय, तबतक यह पाठकोंकी आवश्यकताकी पूर्ति करेगा। एवमस्तु!

अलीगंज (एटा) }
ता० १६–८–३०। } विनीत—कामताप्रसाद जैन।

समर्पण ।

जैन-साहित्य-प्रकाशन
के
पुनीत कार्यमें
दत्त-चित्त,
विवेकी
मित्र
श्री ए एन उपाध्ये महोदय
के
कर-कमलों
में
सादर
सप्रेम
समर्पित ।
— लेखक ।

संक्षिप्त जैन इतिहास।

[लेखक–बाबू कामताप्रसादजी जैन।]

प्रथम भाग–यह ईस्वीसन पूर्व ६०० वर्षसे पहिलेका इतिहास है। इसके ६ परिच्छेदोंमें जैन भूगोलमें भारतका स्थान, ऋषभदेव और कर्मभूमि, अन्य तीर्थंकर आदिका वर्णन है। थोड़ीसी प्रतियां बची हैं। मूल्य ॥≈)

दूसरा भागः प्रथम खण्ड–यह ईस्वी सन् पूर्व छठी शताब्दीसे सन् १३०० तकका प्रामाणिक जैन इतिहास है। इसे पढ़कर मालूम होगा कि पहले जमानेमें जैनोंने कैसी वीरता बतलाई थी। इसमें विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन, भ० महावीर, वीरसंघ और अन्य राजा, तत्कालीन सभ्यता और परिस्थिति, सिकन्दरका आक्रमण और तत्कालीन जैनसाधु, श्रुतकेवली, भद्रबाहु और अन्य आचार्य, तथा मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त आदिका १२ अध्यायोंमें विशद वर्णन है। पृष्ठ संख्या ३०० मू० १॥)

दूसरा भागः द्वितीय खंड–इसमें अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विषयोंका सप्रमाण कथन किया गया है। यथा–चौवीस तीर्थंकर, जैन धर्मकी विशेषता, दिगम्बर संघभेद श्वे० की उत्पत्ति, उपजातियोंकी उत्पत्ति और इतिहास, उत्तरी भारतके राजा और जैनधर्म, ग्वालियरके राजा व जैनधर्म, मुनिधर्म, गृहस्थ धर्म, अजैनोंकी शुद्धि, जैन धर्मकी उपयोगिता आदि १२५ विषयोंका सुबोध और सप्रमाण कथन है। पृ० २०० मूल्य १=)

मैनेजर, दिगम्बरजैनपुस्तकालय–सूरत।

विषयसूची ।

१—प्राक्कथन १
२—पौराणिक काल (ऋषभदेव और भरत) १७
३—अन्य तीर्थंकर और नारायण त्रिपृष्ठ ... ३
४—पोदनपुरके अन्य राजा.. ३३
५—चक्रवर्ती हरिषेण ३४
६—राम, लक्ष्मण और रावण ... ३६
७—राजा ऐलेय और उसके वंशज ... ४६
८—कामदेव नागकुमार ... ४८
९—दक्षिण भारतका ऐतिहासिक काल ५५
१ —भ अरिष्टनेमि, कृष्ण और पांडव ५८
११—भगवान पार्श्वनाथ ८४
१२—महाराजा करकण्डु ८८
१३—भगवान महावीर ९२
१४—सम्राट् श्रेणिक, जम्बूकुमार और विद्युच्चर.... ... ९४
१५—नन्द और मौर्य सम्राट् ९९
१६—आंध्र साम्राज्य ... .. -१०७
१७—द्राविड राज्य ... .११२
१८—पांड्य राज्य, चोल राज्य, चेर राज्य ११५
१९—दक्षिण भारतका जैन संघ जैन संघकी प्राचीनता ...१२९
२०—जैन सिद्धांत श्वेताम्बर नहीं १३४
२१—श्री धरसेनाचार्य और श्रुत उद्धार १३७
२२—मूल संघ श्री कुंदकुंदाचार्य १३९
२३—कुरल काव्य ... .१४३
२४—उमास्वामी (उमास्वाति) १४७
२५—स्वामी समंतभद्र १५

संकेताक्षर सूची ।

प्रस्तुत ग्रन्थके संकलनमें निम्न ग्रन्थोंसे सहायता ग्रहण की गई है, जिनका उल्लेख निम्न संकेतरूपमें यथास्थान किया गया है—

अध०=अशोकके धर्मलेख–लेखक श्री० जनार्दन भट्ट एम० ए० (काशी, सं० १९८०) ।

अहिइ०=‘अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया’–सर विंसेन्ट स्मिथ एम० ए० (चौथी आवृत्ति) ।

अशोक०=‘अशोक’ ले० सर विन्सेन्ट स्मिथ एम० एम० ।

आक०=‘आराधना कथाकोष’ ले० ब्र० नेमिदत्त (जैनमित्र आफिस, सूरत) ।

आजी०=आजीविक्स–भाग १ डॉ० वेनी माधव बारुआ० डी० लिट् (कलकत्ता १९२०) ।

आसू०=‘आचाराङ्ग सूत्र’ मूल (श्वेताम्बर आगम ग्रंथ) ।

अहिइ०=ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया–विन्सेन्ट स्मिथ एम.ए. ।

अमरिइ०=अनल्स ऑव भंडारकर रिसर्च इंस्टीटयूट, पूना ।

आइइ०=ऑरीजिनेल इन्हैबीटेन्ट्स ऑव इंडिया, ऑप्पर्ट सा० कृत (मद्रास) ।

आपु०=आदिपुराण, प० लालाराम द्वारा संपादित (इंदौर) ।

इऐ०=इन्डियन ऐन्टीक्वेरी (त्रैमासिक पत्रिका) ।

इरिई०=इन्सायक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स हेस्टिंग्स ।

इसेजै०=‘इन्डियन सेक्ट ऑफ दी जैन्स’ बुल्हर ।

इहिक्वा०=इंडियन हिस्टोरीकल क्वार्टर्ली–सं० डॉ० नरेन्द्रनाथ

इका अथवा एका —एपीग्रेफिया कर्णाटिका (बैंगलोर)।

ईए =इंडियन एन्टीक्वेरी (बम्बई)।

उद =‘उवासगदसाओ सुत्त ’-डॉ. हार्नले (Biblo Indica).

उपु व उ पु.= उत्तरपुराण श्री गुणभद्राचार्य व पं. लालारामजी।

उसु = उत्तराध्ययन सूत्र’ (श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थ) जार्ल कार्पेंटियर (उपसाला)।

एइ =‘एपिग्रेफिया इंडिका’।

एमे या मेएइ =एन्शियेन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई ‘मेगस्थनीज एण्ड ऐरियन’–(१८७७)।

एएजै =एन इपीटोम ऑफ जैनीज्म–श्री पूरणचन्द नाहर एम. ए.।

एमिक्षट्रा = एन्शियेन्ट मिड इंडियन क्षत्रिय ट्राइब्स डॉ. विमलचरण लॉ (कलकत्ता)।

एइ =एन्शियेन्ट इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाई स्ट्रैबो मक क्रिंडल (१८ १)।

ऐरि =ऐशियाटिक रिसर्चेज–सर विलियम जोन्स (सन् १७९९ व १९ ९)।

कज्याइ =कनिंघम, ज्यागरफी ऑफ ऐंशियेन्ट इंडिया–(कलकत्ता १९२४)।

कहि =‘ए हिस्ट्री ऑफ कनारीज लिट्रेचर’ ई. पी. राइस (H. L. S. 1921).

कसु =कल्पसूत्र मूल (श्वेताम्बरी आगम ग्रन्थ)।

कावे =कारमाइकल लेक्चर्स डॉ. डी. आर. भाण्डारकर।

कैहि =कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐन्शियेन्ट इंडिया, भा. १–रैप्सन सा. (१९२२)।

करच०=करकण्डुचरिय, प्रॉ०हीराळाळ द्वारा सपादित (कारञ्जा) ।

कृऐइ०=कृष्णस्वामी ऐंगरकृत ऐन्शियेन्ट इडिया (ळदन १९११)

गुसापरि०=गुजराती साहित्य परिषद् रिपोर्ट–सातवीं । (भावनगर स० १९२२) ।

गौबु०='गौतमबुद्ध' के० जे० सॉन्डर्स (H. L. S)

गैब०=गॅज़ेटियर ऑव बम्बई, भाण्डारकर आदि कृत ।

गैमैकु०=गैज़ेटियर ऑव मैसूर एण्ड कुर्ग ।

चमभ०='चन्द्रराज भण्डारी कृत भगवान महावीर' ।

जवि ओसो०=जनरळ आफ दी विहार एण्ड ओडीसा रिसर्च-सोसाइटी' ।

जम्बू०=जम्बूकुमार चरित्र (सूरत वीराब्द २४४०) ।

जमीसो०=जर्नेळ ऑफ दी मीथिक सोसाइटी–बैंगळोर ।

जराएसा०=जर्नेळ ऑफ दी रायळ एसियाटिक सोसाइटी–ळदन ।

जैका०=' जैन कानून ' (श्री० चम्पतरायजी जैन विद्यावा० बिजनौर (१९२८) ।

जैग०=' जैन गजट ' अंग्रेजी (ळखनऊ) ।

जैप्र०=जैनधर्म प्रकाश ब्र० शीतळप्रसादजी (बिजनौर १९२७) ।

जैस्तू०=जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वटीज ऑफ मथुरा–स्मिथ ।

जैसास०='जैन साहित्य सशोधक' मु० जिनविजयजी (पूना) ।

जैसिभा०=जैन सिद्धान्त भास्कर श्री पद्मराज जैन (कळकत्ता) ।

जैशि स०='जैन शिळाळेख सग्रह'–प्रो० हीराळाळ जैन (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाळा ।

जैहि०=जैन हितैषी स० प० नाथूरामजी व प० जुगळकिशोरजी (बम्बई) ।

जैसू (Ja.)=जैन सूत्राज (S. E. Series Vols. XXII & XLV)

जम्बू =जम्बूकुमार चरित (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई)।

जसाइं =प्रो एस आर शर्मा कृत जैनीज्म इन साउथ इंडिया।

टॉरा =टॉडसा० कृत राजस्थानका इतिहास वेङ्कटेश्वर प्रेस।

डिक्जै =' ए डिक्शनरी ऑफ जैन बायोग्राफी ' श्री उमरावसिंह टॉक (आरा)।

तक्ष =' ए गाइड टू तक्षशिला'—सर जॉन मार्शल (१९१८)।

तत्वार्थ =तत्वार्थाधिगमसूत्र श्री उमास्वाति S B J Vol. I

तिप =' तिलोयपण्णत्ति ' श्री यति वृषभाचार्य (जैन हितैषी भा० १३ अंक १२)।

दिजै =' दिगम्बर जैन मासिक पत्र सं० श्री मूलचन्द किसनदास कापड़िया (सूरत)।

दीनि= 'दीघनिकाय' (P T S.)

नाच =नागकुमार चरित (माणिकचंद ग्रंथमाला, बम्बई)।

परि =परिशिष्ट पर्व—श्री हेमचन्द्राचार्य।

प्राजैलेसं =प्राचीन जैन लेख संग्रह कामताप्रसाद जैन (वर्धा)।

प्रसा =प्रवचनसार प्रो० ए एन उपाध्ये द्वारा संपादित बम्बई।

बबिओजैस्मा =बंगाल, बिहार, ओड़ीसा जैन स्मारक—ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी (सूरत)।

बंजैस्मा =बम्बई प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक ब्र० शीतलप्रसादजी।

बुइ =बुद्धिस्ट इंडिया प्रो० रीस डेविड्स।

बुस्ट=बुद्धिस्टिक स्टडीज, डॉ० विमलचरण लॉ द्वारा संपादित कलकत्ता।

भपा०=भगवान् पार्श्वनाथ–ले० कामताप्रसाद जैन (सूरत)।

भम०=भगवान महावीर– ,, ,, ,,

भमबु०=भगवान महावीर और म०बुद्ध कामताप्रसाद जैन (सूरत)

भमी०=भट्टारक मीमांसा (गुजराती) सूरत।

भमअ०=भगवान महावीरकी अहिंसा (दिल्ली)

भाई०=भारतवर्षका इतिहास–डॉ० ईश्वरीप्रसाद डी० लिट् (प्रयाग १९२७)।

भाअशो०=अशोक–डॉ० भाण्डारकर (कलकत्ता)।

भाप्रारा०=भारतके प्राचीन राजवंश श्री० विश्वेश्वरनाथ रेउ बंबई।

भाप्रासइ०=भारतकी प्राचीन सभ्यताका इतिहास, सर रमेशचंद्र दत्त।

मजैइ०=मराठी जैन इतिहास।

मनि०= }
मज्झिम०= } मज्झिमनिकाय P T S

ममप्रजैस्मा०=मद्रासमैसूरके प्रा० जैनस्मारक ब्र०शीतलप्रसादजी।

महा०=महावग्ग (S B. E Vol XVII)

मिलिन्द०=मिलिन्द पन्ह (S B. Vol XXXV)

मुरा०=मुद्राराक्षस नाटक-इन दी हिन्दू ड्रामेटिस वर्कस, विल्सन।

मूला०=मूलाचार वट्टकेर स्वामी (हिन्दी भाषा सहित बम्बई)।

मैबु०=मैन्युल ऑफ बुद्धिज्म=(स्पेनहार्डी)।

मैअशो०=अशोक मैकफेल कृत (H. L S)

मारि०=माडर्नरिव्यू, स० रामानंद चटर्जी (कलकत्ता)।

मैकु०=मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम इन्स्क्रिपशन्स–राइस (बंगलोर)।

मैबु=मैन्युल ऑफ बुद्धिज्म–(स्पेनहार्डी)

मोद०=मोहनजोदरो–सर जॉन मारशल (लन्दन)।

रत्ना० =रत्नकरण्ड श्रावकाचार सं पं जुगलकिशोरजी (बम्बई)

राइ =राजपूतानेका इतिहास भाग १–रा ब पं गौरीशंकर हीराचंद ओझा।

रिइ =रिलिजन ऑफ दी इम्पायर–(लन्दन)।

लाम =लाइफ ऑफ महावीर का माणिकचन्दजी (इलाहाबाद)।

भाइ =भारतवर्षका इतिहास ला लाजपतरायकृत (लाहौर)।

लम =लार्ड महावीर एण्ड अदर टीचर्स ऑफ हिज टाइम–कामताप्रसाद (दिल्ली)।

लाबु =लाइफ एण्ड वर्क्स ऑफ बुद्ध घोष–डॉ विमलाचरण लॉ (कलकत्ता)।

लाअने =लार्ड अरिष्टनेमि, (दिल्ली)।

वृजैश =वृहद् जैन शब्दार्णव–पं बिहारीलाल चैतन्य।

विर =विद्वद् रत्नमाला–पं नाथूरामजी प्रेमी (बम्बई)।

विभा =विशालभारत, सं श्री बनारसीदास चतुर्वेदी कलकत्ता।

श्रव =श्रवणबेल्गोला रा ब प्रो नरसिंहाचार एम ए (मद्रास)।

श्रेच =श्रेणिक चरित्र (सूरत)।

सआमेवॉ =सर आशुतोष मेमोरियल वॉल्यूम (पटना)।

सकौ =सम्यक्त्व कौमुदी (बम्बई)।

सजै =सनातन जैन धर्म–अनु कामताप्रसाद (कलकत्ता)।

संजैइ =संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम भाग कामताप्रसाद (सूरत)

सडिजै =सम डिस्टिंग्विश्ड जैन्स उमरावसिंह टांक (आगरा)।

संप्राजैस्मा =संयुक्त प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक–ब्र शीतल।

खण्डोंके बने हुये होनेके कारण इन्हें नाशवान भी मानना पड़ेगा। पर अनुभव ऐसा नहीं है। चेतन कभी मरता नहीं देखा गया और न उसका ज्ञान टुकड़ोंमें बटा हुआ अनेकरूप अनुभवमें आया। इसलिये वह अजन्मा है। संसारमें वह अनादिसे अजीवके संसर्गमें पड़ा हुआ संसरण कर रहा है। जीव–अजीवका यह सनातन प्रवाह अनन्तका इतिहास है। उसका प्रत्यक्ष अनुभव पूर्ण ज्ञानी बननेपर होता है। जैन सिद्धान्त ग्रंथोंमें उसका रूपरङ्ग और उपाय वर्णित है। जिज्ञासुगण उनसे अपनी मनस्तुष्टि कर सकते हैं।

किन्तु धर्म अथवा वस्तुस्वरूपके इस सनातन प्रवाहमें उसका वर्तमान इतिहास जान लेना उपादेय है। वर्तमानमें उसका निरूपण कैसे हुआ? उसकी समवृद्धि कैसे हुई? किन किन लोगोंने उसे कैसे अपनाया? उसके यथार्थ रूपमें धब्बे कैसे लगे? और उनसे उसके कौन२से विकृत–रूप हुये? उन विकृत रूपोंके कारण मूल धर्मका कैसा ह्रास हुआ? इत्यादि प्रश्न हैं जिनका उत्तर पाये विना मनुष्य अपने जीवनको सफल बनानेमें सिद्ध–मनोरथ नहीं हो सकता। इसीलिये मनुष्यके लिये इतिहास–शास्त्रके ज्ञानकी आवश्यक्ता है। वह मनुष्यके नैतिक उत्थान और पतनका प्रतिबिम्ब है। धर्म और अधर्म, पुण्य और पापके रङ्गमञ्चका चित्रपट है। उसका बाह्यरूप राज्योंके उत्कर्ष और अपकर्ष, योद्धाओंकी जय और पराजयका द्योतक है, परन्तु यह सब कुछ पुण्य पापका खेल ही है। इसलिये इतिहास वह विज्ञान है जो मनुष्यजीवनको सफल बनानेके लिये नैतिक शिक्षा खुली पुस्तककी तरह प्रदान करता है। यह

मनुष्यमें विवेक, उत्साह और वीर्यको जागृत कर उसे विजयी वीर बनाता है, इसीलिये उसकी आवश्यकता है।

जैन धर्मका इतिहास उसके अनुयायियोंकी जीवन गाथा है क्योंकि धर्म स्वयं पङ्गु है–वह धर्मात्माओंके आश्रय है। इस भागको प्रगट करनेके पहले जैन इतिहासके तीन खंड लिखे जा चुके हैं। उनके पाठसे पाठकगण जान गये हैं कि धर्मका प्रतिपादन इस कालमें सर्व प्रथम कर्मयुगके आरम्भमें भगवान ऋषभदेव द्वारा हुआ था।

भगवान ऋषभदेवके पहले यहां भोगभूमि थी। यहांके प्राणियोंको जीवन निर्वाहके लिये किसी प्रकारका परिश्रम नहीं करना होता था। उनका जीवन इतना सरल था कि वह प्राकृतरूपमें ही अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर लेते थे। जैन शास्त्र कहते हैं कि 'कल्प वृक्षों' से उन लोगोंको मनचाहे पदार्थ मिल जाते थे। वह मनमाने भोग भोगते और जीवनका मजा लूटते थे। किन्तु जमाना हमेशा एकसा नहीं रहता। वह दिन बीत गये जब यहां ही स्वर्ग था। लोग उतने पुण्यशाली जन्मे ही नहीं कि स्वर्ग-सुखके अधिकारी इस भागमें ही होते। जैन शास्त्र बताते हैं कि जब एक रोज कल्पवृक्ष नष्ट हो गये, लोगोंको पेटका सवाल हल करनेके लिये बुद्धि और बलका उपयोग करना आवश्यक होगया परन्तु वे जानते तो थे ही नहीं कि उसका उपयोग कैसे करें? वे अपनेमें मेधावी पुरुषोंको खोजने लगे उन्होंने उनको कुलकर या मनु कहा।

इन कुलकरोंने, जो कुल चौदह थे, लोगोंको जीवननिर्वाह

सुसाइजै०=स्टडीज इन साउथ इडियन जैनिज्म।प्रो० रामस्वामी आयगर।

ससू०=सम्राट् अकबर और सूरीश्वर—मुनि विद्याविजयजी (आगरा)

सक्षट्राएइ०=सम क्षत्री ट्राइब्स इन एन्शियन्ट इडिया—डॉ० विमलचरण लॉ।

साम्स०=साम्स आफ दी ब्रदरेन।

सुनि०=सुत्तनिपात (S. B E.)।

साइजै०=स्टडीज इन साउथ इडियन जैनिज्म प्रो० रामास्वामी आयगर।

हरि०=हरिवंशपुराण—श्री जिनसेनाचार्य (कलकत्ता)।

हॅजै०=हॉर्ट ऑफ जैनीज्म मिसेज स्टीवेन्सन (लन्दन)।

हिआइ०=
हिआरुइ= } हिस्ट्री ऑफ दी आर्यन रूल इन इडिया—हैवेल।

हिग्ली०=हिस्टोरीकल ग्लीनिंगस—डॉ० विमलचरण लॉ।

हिटे०=हिन्दू टेल्स—जे० जे० मेयर्स।

हिड्राव०=हिन्दू ड्रामेटिक वर्क्स विल्सन्।

हिप्रीइफि०=हिस्ट्री आफ दी प्री-बुद्धिस्टिक इडियन फिलासफी बारुआ (कलकत्ता)।

हिलिजै०=हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर ऑफ जैनीज्म—बारोदिया (१८०९)

हिवि०=हिन्दी विश्वकोष नागेन्द्रनाथ वसु (कलकत्ता)।

क्षत्रीक्लेन्स=क्षत्रीक्लेन्स इन बुद्धिष्ट इडिया—डॉ० विमलाचरण लॉ।

श्रीमान फतेमालजी श्रीचन्दजी गोलेछा
जयपुर वालों की ओर से भेंट ॥

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

संक्षिप्त जैन इतिहास ।

III

भाग तीसरा—खण्ड पहला ।

(अर्थात् दक्षिण भारतके जैनधर्मका इतिहास)

प्राक्कथन ।

जैनधर्म तात्विकरूपमें एक अनादि प्रवाह है वह सत्य है एक विज्ञान है। उसका प्रकृत इतिहास वस्तुस्वरूप है। वस्तु आदि नहीं अनादि है कृत्रिम नहीं अकृत्रिम है नाशवान नहीं चिरस्थायी है कूटस्थ नित्य नहीं पर्यायोंका परिणामक है। इस लिये विश्वके निर्माणक पदार्थोंका इतिहास ही जैनधर्मका इतिहास है। और विश्वके निर्माणक पदार्थ तत्ववेत्ताओंने जीव और अजीव बताये हैं। चेतन पदार्थ यदि न हो तो विश्व अंधकारमय होजाय। उसे जाने और समझे कौन ! और यदि अचेतन पदार्थ न हो तो इस संसारमें जीव रहे किसके आश्रय ! सचमुच हमें विश्व और उसके अस्तित्वका ज्ञान है। वह है और अपने अस्तित्वसे जीव और अजीवकी स्थिति सिद्ध कर रहा है। परन्तु यह जीव और अजीव आये कहांसे ! यदि इन्हें किसी नियत समयपर किसी व्यक्ति—विशेष द्वारा बना हुआ कहा जाय तो वह अनन्त और अकृत्रिम या अनादि नहीं रहते।

— [illegible]र्य विजयचन्द ज्ञान भण्डार

खण्डोंके बने हुये होनेके कारण इन्हें नाशवान भी मानना पड़ेगा। पर अनुभव ऐसा नहीं है। चेतन कभी मरता नहीं देखा गया और न उसका ज्ञान टुकड़ोंमें बटा हुआ अनेकरूप अनुभवमें आया। इसलिये वह अमन्मा है। संसारमें वह अनादिसे अजीवके संसर्गमें पड़ा हुआ संसरण कर रहा है। जीव—अजीवका यह सनातन प्रवाह अनन्तका इतिहास है। उसका प्रत्यक्ष अनुभव पूर्ण ज्ञानी बननेपर होता है। जैन सिद्धान्त ग्रंथोंमें उसका रूपरङ्ग और उपाय वर्णित है। जिज्ञासुगण उनसे अपनी मनस्तुष्टि कर सकते हैं।

किन्तु धर्म अथवा वस्तुस्वरूपके इस सनातन प्रवाहमें उसका वर्तमान इतिहास जान लेना उपादेय है। वर्तमानमें उसका निरूपण कैसे हुआ? उसकी समवृद्धि कैसे हुई? किन किन लोगोंने उसे कैसे अपनाया? उसके यथार्थ रूपमें धब्बे कैसे लगे? और उनसे उसके कौन२से विकृत—रूप हुये? उन विकृत रूपोंके कारण मूल धर्मका कैसा ह्रास हुआ? इत्यादि प्रश्न हैं जिनका उत्तर पाये विना मनुष्य अपने जीवनको सफल बनानेमें सिद्ध—मनोरथ नहीं हो सकता। इसीलिये मनुष्यके लिये इतिहास—शास्त्रके ज्ञानकी आवश्यक्ता है। वह मनुष्यके नैतिक उत्थान और पतनका प्रतिविम्ब है। धर्म और अधर्म, पुण्य और पापके रङ्गमचका चित्रपट है। उसका बाह्यरूप राज्योंके उत्कर्ष और अपकर्ष, योद्धाओंकी जय और पराजयका द्योतक है, परन्तु यह सब कुछ पुण्य पापका खेल ही है। इसलिये इतिहास वह विज्ञान है जो मनुष्यजीवनको सफल बनानेके लिये नैतिक शिक्षा खुली पुस्तककी तरह प्रदान करता है। वह

मनुष्यमें विवेक, उत्साह और शौर्यको जाग्रत कर उसे विजयी वीर बनाता है, इसीलिये उसकी आवश्यकता है ।

जैन धर्मका इतिहास उसके अनुयायियोंकी जीवन गाथा है क्योंकि धर्म स्वयं वस्तु है—वह धर्मात्माओंके आश्रय है । इस बातको लक्ष्य करके पहले जैन इतिहासके तीन खंड लिखे जा चुके हैं । उनके पाठसे पाठकगण जान गये हैं कि धर्मका प्रतिपादन इस कालमें सर्व प्रथम कर्मयुगके आरम्भमें भगवान ऋषभदेव द्वारा हुआ था ।

भगवान ऋषभदेवके पहले यहां भोगभूमि थी । यहांके मानवोंको जीवन निर्वाहके लिये किसी प्रकारका परिश्रम नहीं करना होता था । उनका जीवन इतना सरल था कि वह प्राकृतरूपमें ही अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर लेते थे । जैन शास्त्र कहते हैं कि 'कल्प वृक्षों' से उन लोगोंको मनचाहे पदार्थ मिल जाते थे । वह मनमाने भोग भोगते और जीवनका मजा लूटते थे । किन्तु जमाना हमेशा एकसा नहीं रहता । वह दिन बीत गये जब यहां ही स्वर्ग था । लोग उतने पुण्यशाली रहे ही नहीं कि स्वर्ग-सुखके अधिकारी इस भरतखण्डमें ही होते । जैन शास्त्र बताते हैं कि जब एक रोज कल्प-वृक्ष नष्ट हो गये लोगोंको पेटका सवाल हल करनेके लिये बुद्धि और बलका उपयोग करना आवश्यक होगया परन्तु वे जानते तो थे ही नहीं कि उनका उपयोग कैसे करें ! वे उनमेंसे मेधावी पुरुषोंको खोजने लगे उन्होंने उनको कुलकर या मनु कहा ।

इन कुलकरोंने, जो कुल चौदह थे लोगोंको जीवननिर्वाह

करनेकी प्रारम्भिक शिक्षा दी।[1] बारहवें कुलकरका नाम मरुदेव था। उन्होंने नाविक शिक्षाके साथ २ लोगोंको दाम्पत्यजीवनका महत्व हृदयङ्गम कराया।[2] उन्हींके समयसे कहना चाहिये कि कर्मशील नर-नारियोंने घरगिरस्ती बनाकर रहना सीखा। शायद यही कारण है कि वैदिक साहित्यमें भारतके आदि निवासी 'मरुदेव' भी कहे गये हैं। अंतिम कुलकर नाभिराय थे जिनकी रानी मरुदेवी थीं। इन्हीं दम्पतिके सुपुत्र भगवान ऋषभदेव थे।

भगवान ऋषभदेवने ही लोगोंको ठीकसे सभ्य जीवन व्यतीत करना सिखाया था। उनके पूर्वोपार्जित शुभ कर्मोंका ही यह सुफल था कि स्वय इन्द्रने आकर उनके सभ्यता और संस्कृतिके प्रसारमें सहयोग प्रदान किया था। कुटुंबोंको उनकी कार्यक्षमताके अनुसार उन्होंने तीन वर्गोंमें विभक्त कर दिया था, जो क्षत्री, वैश्य और शूद्रवर्ण कहलाते थे। जब धर्मतीर्थकी स्थापना होचुकी तब ज्ञान-प्रसारके लिये ब्राह्मणवर्ग भी स्थापित हुआ। इसतरह कुल चार वर्णोंमें समाज विभक्त करदी गई, किन्तु उसका यह विभाजन मात्र राष्ट्रीय सुविधा और उत्थानके लिये था। उसका आधार कोई मौलिक भेद न था। उस समय तो सब ही मनुष्य एक जैसे थे। नैतिक व अन्य शिक्षा मिलनेपर जैसी जिसमें योग्यता और क्षमता-दृष्टि पड़ी वैसा ही उसका वर्ण स्थापित कर दिया गया, यद्यपि सामाजिक सम्बन्ध—विवाह शादी करनेके लिये सब स्वाधीन थे। दक्षिण भारतमें भी इस व्यवस्थाका प्रचार थी, क्योंकि वहाके साहि-

---

[1] आपु० पर्व ३ व १२। [2] सजैइ० १।२१।

इससे भी इन्हीं चार वर्णोंका पता चलता है और इनके जीवननिर्वाहके लिये ठीक वही आजीविकाके छह उपाय बताये गये हैं जो उत्तर भारतमें मिलते हैं ।[1]

जैन शास्त्रोंमें उत्तर और दक्षिण भारतके मनुष्योंमें कोई भेद नजर नहीं पड़ता । इससे मालूम होता है कि उनमें उस समयका वर्णन है जब कि सारे भारतमें एक ही सभ्यता और संस्कृति थी । उस समय वैदिक आर्योंका उनको पता नहीं था । प्राचीन शोध भी हमें इसी दिशाकी ओर लेजाती है । हरप्पा और मोहनजोदड़ोकी ईसासे पांचहजार वर्षों पहलेकी सभ्यता और संस्कृति वैदिक धर्मानुगामी आर्योंकी नहीं थी, अपितु उसका सादृश्य और साम्य द्राविड़ सभ्यता और संस्कृतिसे था यह आज विद्वानोंके निकट एक मान्य विषय है ।[2] साथ ही यह भी प्रकट है कि एक समय द्राविड़ सभ्यता उत्तर भारत तक विस्तृत थी । सारांशतः यह कहा जासकता है कि वैदिक आर्योंके पहले सारे भारतवर्षमें एक ही सभ्यता और संस्कृतिको माननेवाले लोग रहते थे । यही वजह है कि जैनशास्त्रोंमें उत्तर और दक्षिणके भारतीयोंमें कोई भेद दृष्टि नहीं पड़ता ।

१–'तोल्काप्पियम्' जैसे प्राचीन ग्रंथसे यही प्रगट है । क्योंकि वर्ण (१) अरसर अर्थात् क्षत्री, (२) अन्दनर अर्थात् ब्राह्मण (३) वणिकर (४) वेल्लालर (कृषक) आजीविकर्म जैन ग्रन्थोंकी भांति पहले लिया गया है । २–भारत० मो० भा० १ पृ १०९–१११ “a comparison of the Indus and Vedic Cultures shows in contestably that they were unrelated.” (p. 110).

किन्तु प्रश्न यह है कि वैदिक आर्योंसे पहले जो लोग भारतमें रहते थे वह कौन थे ? यदि हम मेजर जेनरल फरलॉंग सा० के अभिमतको मान्य ठहरायें तो इस प्रश्नका उत्तर यह होगा कि वे द्राविड और जैनी थे । और सब ही मरुदेव या नाभिराय कुलकरकी सन्तान थे ।[1] उनकी एक सभ्यता थी, एक सस्कृति थी और एक धर्म था, जैसा कि कुलकरों और आदिब्रह्मा ऋषभदेवने निर्धारित किया था। परन्तु इस प्रश्नपर जरा अधिक गहरा विचार वाञ्छनीय है—मनस्तुष्टि गभीर गवेषणासे भली होती है।

निस्सन्देह यह स्पष्ट है कि भारतके आदि निवासी वैदिक मान्यताके आर्य नहीं थे । उनके अतिरिक्त भारतमें दो प्रकारके मनुष्योंकि रहनेका पता चलता है । उनमेंसे एक सभ्य थे और दूसरे बिल्कुल असभ्य थे । पहले लोगोंका प्राचीन साहित्यमें नाग, असुर, द्राविड़ आदि नामोंसे उल्लेख हुआ मिलता है और दूसरे प्रकारके असभ्य लोग 'दास' कहे गये हैं ।[2] किन्हीं लोगोंका अनुमान है कि इन्हीं 'दास' लोगोंमेंसे शूद्र वर्णके लोग थे । सभ्य लोग

---

[1] १. फरलाग सा० लिखते हैं कि "अनुमानतः ई० पूर्व १९००से ८०० बल्कि अगणित समयसे पश्चिमीय तथा उत्तरीय भारत तूरानी या द्राविड़ों द्वारा शासित था । उसी समय उत्तरीय भारतमें एक पुराना, सभ्य, सैद्धान्तिक और विशेषतः साधुओंका धर्म अर्थात् जैन धर्म भी विद्यमान था । इसी धर्मसे ब्राह्मण और बौद्ध धर्मोंके सन्यास शास्त्रोंने विकास पाया ।"–Short studies in the Science of Comparative Religions, (pp. 243–4)

[2] २. ऋग्, पू० भू० ३ ब १–६४

पुरुरवा असुर नामसे ही विख्यात थे। अब जरा देखिये, वैदिक साहित्यमें इन असुर लोगोंकी यह खास विशेषतायें वर्णित हैं —

(१) असुर लोग 'प्रजापति' की सन्तान थे और उनकी प्रभा वैदिक देवताओंके समान थी।

(२) असुर लोगोंकी भाषा संस्कृत नहीं थी। पाणिनिने उन्हें व्याकरणके ज्ञानसे हीन बताया है। ऋग्वेद (७।१८–१३) में उन्हें 'विरोधी भाषा-भाषी' (of hostile speech) और वैदिक आर्योंका शत्रु (१।१७४–२) कहा है।

(३) असुर ध्वजचिह्न सर्प और गरुड़ थे।

(४) असुर आत्मधर्म प्रवीण थे।

(५) असुर लोग ज्योतिष विद्यामें निष्णात थे। (ऋग्वेद १।२८।८)

(६) माया या जादू (magic) असुरका गुण था। (ऋग्वेद १।११ –२१)

असुर लोगोंकी यह विशेषतायें आज भी जैनियोंके लिये लागू हैं। जैन शास्त्रोंमें आदिब्रह्मा ऋषभदेव 'प्रजापति'[1] भी कहे जाते हैं। आजके जैनी उनकी सन्तान हैं और वे भी अन्य हिन्दुओंकी तरह आर्य ही हैं। जैनियोंकी भाषा संस्कृतसे स्वतन्त्र प्राकृत रही है, जिसका व्याकरण अथवा साहित्यकलेवर संस्कृतसे प्रायः अर्वाचीन है। प्राकृत संस्कृतसे भिन्न ही है। इसलिये जैनियों और असुरोंकी भाषा भी समान प्रगट होती है। असुर चिह्न सर्प

---

[1] महापुराण—जिनसहस्रनाम

जैनोंमें विशेष रूढ़ है। एकसे अधिक जैन तीर्थङ्करों और शासन देवताओंसे उसका सम्बन्ध है। हां, गरुड़का चिह्न जैनोंमें उतना प्रचलित नहीं है। जैनोंके सब ही तीर्थङ्कर क्षत्री थे और उनकी शिक्षा प्रत्येक मनुष्यको क्षात्र धर्मका अनुयायी बना देती है।

जैनियोंका आध्यात्मिक क्षात्रधर्म अनूठा है। ब्राह्मणों और बौद्धोंने जैनियोंको ज्योतिष विद्यामें निष्णात लिखा है[1] और प्राचीन भारतमें जैन मान्यतानुसार ही कालगणना प्रचलित थी।[2] इन विधर्मियोंने जैन तीर्थङ्करोंकी बाह्य विभूति देखकर उन्हें इन्द्रजालिया (जादूगर) आदि कहा है।[3] इस प्रकार असुर लोगोंकी खास विशेषतायें जैनोंमें मिलती है। उसपर उपरान्त असुर लोगोंद्वारा अर्थवेदकी मान्यताका उल्लेख है, जिसे ऋषि अङ्गिरसने रचा था। यह ऋषि अङ्गिरस स्वयं एक समय जैन मुनि थे।[4] इस साक्षीसे भी असुरोंका जैनधर्मसे सम्बंधित होना प्रगट है। अन्तत वैदिक पुराण ग्रन्थोंके निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि असुर भी एक समय जैनधर्मानुयायी थे —

(१) 'विष्णुपुराण' (अ० १७-१८) में एक कथा है जिसका संक्षेप इसप्रकार है कि एक समय देवता और असुरोंमें

---

[1] पञ्चतन्त्र (५।१) प्रबोध चन्द्रोदय नाटक, न्यायबिन्दु अ० ३ आदि०। न्यायबिन्दुमें लिखा है· "यथा सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्। यथा ऋषभवर्धमानादिरिति।"

[2] अलवेरूनीका भारत वर्ष देखो—उसने कालगणनामें अवसर्पिणीका उल्लेख किया है।

[3] वृहत्स्वयम्भूस्तोत्रादि।

[4] "दिजे"—विशेषांक

यहां भारी युद्ध हुआ तब देवता हार गये और असुर जीत गये। हारे हुये देवगण विष्णु भगवानकी शरणमें आये और बहुत स्तुति करके कहा कि महाराज कुछ ऐसा उपाय कीजिये जिससे हम असुरोंपर विजय प्राप्त कर सकें। विष्णु भगवानने यह सुनकर अपने शरीरसे एक मायामोह नामका पुरुष उत्पन्न किया। वह दिगम्बर मुंडे शिरवाला और मोर पिच्छिधारी था।

इस मायामोहको विष्णुने उन देवोंको देकर कहा कि यह मायामोह अपनी माया (जादू) से असुरों या दैत्योंको धर्म-भ्रष्ट कर देगा और तब तुम विजयी होगे। मायामोह देवोंके साथ असुरोंके पास पहुंचा और उन्हें बहुत तरह समझाकर बताया कि आर्हत (जैन) धर्म ही श्रेष्ठ है—इसे धारण करो। असुरोंने मायामोहका उपदेश स्वीकार किया और वे धर्मभ्रष्ट होगये। तब देवोंने उन्हें जल्दी ही परास्त कर डाला।[1] इस कथामें वर्णित मायामोह एक दिगम्बर जैन मुनि है और उन्हें मायावाकी (जादूगर) बताया

---

[1] इत्युक्तो भगवांस्तेभ्यो मायामोहं शरीरतः।
समुत्पाद्य ददौ विष्णुः प्राह चेदं सुरोत्तमान् ॥ ४१ ॥
मायामोहोऽयमखिलान् दैत्यांस्तान् मोहयिष्यति।
ततो वध्या भविष्यन्ति वेदमार्गबहिष्कृताः ॥ ४२ ॥
स्थितौ स्थितस्य मे वध्या यावन्तः परिपन्थिनः।
ब्रह्मणो येऽधिकारस्था देवदैत्यादिकाः सुरा ॥ ४३ ॥
तद्गच्छत न भीः कार्या मायामोहोऽयमग्रतः।
गच्छन्नद्योपकाराय भवतां भविता सुरा ॥ ४४ ॥ इत्यादि।

है। उनका धर्म स्पष्ट रूपसे आर्हत मत (जैन धर्म) कहा गया है। नर्मदातटपर बसनेवाले असुरोंको उन्होंने जैनधर्म रत बनाया था। असुरोंकी पूर्वोल्लिखित विशेषतायें इन जैनी असुरोंमें मिल जाती हैं।

(२) एक ऐसी ही कथा हिन्दु 'पद्मपुराण' (प्रथम सृष्टि खँड १३ पृ० ३३) पर अंकित है और उसमें भी मायामोह जो दिगम्बर मुंडे सिर और मोर पिच्छिकाधारी योगी (योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपत्रधरोह्ययं) था, उसके द्वारा असुरोंका जैनधर्म रत होना लिखा है।[1]

(३) 'देवी भागवत' (चतुर्थ स्कंध अध्याय १३) में कथन है कि शुक्राचार्य अपने असुर—दैत्यादि यजमानोंको देखने गये तो क्या देखते हैं कि छलवेषधारी बृहस्पतिजी उन असुरोंको जैन धर्मका उपदेश देते है।[2] वह असुरोंको ' देवोंका वैरी ' कहकर सम्बोधन करते हैं, जैसे कि ऋग्वेदमें असुरोंको कहा गया है।

---

[1] बृहस्पतिसाहाय्यार्थं विष्णुना मायामोहसमुत्पादनम् दिगम्बरेण मायामोहेन दैत्यान् प्रति जैनधर्मोपदेशः दानवाना मायामोहमोहिताना गुरुणा दिगम्बरजैनधर्मदीक्षादानम्।' (पद्मपुराण—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई पृ० २) इस पुराणमें दैत्य, दानव और असुर शब्द समवाची अर्थमें व्यवहृत हुये हैं, क्योंकि अंतमें लिखा है 'त्रयीधर्मसमुत्सृज्य मायामोहेन तेऽसुरा।'

[2] 'छद्मरूपधरं सौम्यं बोधयन्तं छलेन तान्।
जैनधर्मं कृतं स्वेन यज्ञनिंदापरं तथा ॥ ५४ ॥
भो देवरिपवः सत्यं ब्रवीमि भवतां हितम्।
अहिंसा परमो धर्मोऽहंतव्याश्चाततायिनः ॥ ५५ ॥ इत्यादि।

(४) मत्स्यपुराण[1] (अ० २४) में भी देवासुर युद्धका प्रसंग आया है और उसमें भी इनमें जैन धर्मका प्रचार होना वर्णित है।

इन उद्धरणोंसे सिद्ध है कि भारतके प्राचीन निवासी असुर लोगोंमें जैनधर्मका प्रचार रहा है। ये देवासुर संग्रामके समय जैनी थे। इसलिये वैदिक आर्योंकी सभ्यता और संस्कृतिसे पृथक् और प्राचीन जो सभ्यता और संस्कृति सिन्धु उपत्यकामें मिलती है वह जैन धर्मानुयायी असुर लोगोंकी कही जासकती है और उसका सादृश्य द्राविड़ सभ्यतासे है। इसलिये उन दोनोंको एक मानना अनुचित नहीं है। जैन ग्रन्थोंसे एक आस्तिक भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका ही पता चलता है।

मोहनजोदरोकी मुद्राओंपर शिलालेखोंमें ऐसी मूर्तियां और वाक्य मिले हैं जिनका सम्बन्ध जैन धर्मसे है। एक मुद्रापर 'जिनेश्वर' शब्द लिखा हुआ पढ़ा गया है।[3] मुद्राओंपर अंकित मूर्तियां योग-निष्ठ कायोत्सर्ग मुद्रावाली नग्न हैं जैसी कि जैन मूर्तियां होती हैं। एक पद्मासन मूर्ति तो ठीक भगवान पार्श्वनाथकी सर्पफणमण्डल युक्त प्रतिमाके अनुरूप है।[4] उनकी नासाग्र दृष्टि, कायोत्सर्ग मुद्रा और वृषभादि चिह्न ठीक जिन मूर्तियोंके समान हैं। यह समानता भी इन मूर्तियोंको जैन धर्मानुयायी पुरुषोंद्वारा निर्मित प्रगट करती है।

---

[1] पुरातत्त्व भा ३ पृ १०६

[2] इंडिका भा ८ परिशिष्ट पृ १

[3] Modern Review August 1932 pp. 155-160

[4] मोहे, भा १ पृ ९ Plate XIII, 15 16.

इधर जैन शास्त्रोंमें यह प्रगट ही है कि उत्तर भारतकी तरह दक्षिण भारतके देशोंमें भी सर्व प्रथम भ० ऋषभदेव द्वारा ही सभ्यता और संस्कृतिका प्रचार हुआ था। जब वह समूचे देशकी व्यवस्था करने लगे थे, तब इन्द्रने सारे देशको निम्नलिखित ५२ प्रदेशोंमें विभक्त किया था—

"सुकौशल, अवंती, पुंड्र, उंड्र, अश्मकरम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, वंग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आंध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, सूरसेन, अपरांत, विदेह, सिंधु, गांधार, यवन, चेदि, पल्लव, कांबोज, आरट्ट, बाल्हीक, तुरुष्क, शक, और केकय।"[1]

---

[1] "देशाः सुकोशलावंतीपुंड्रोड्राश्मकरम्यकाः ।
कुरुकाशीकलिंगांगवंगसुह्माः समुद्रकाः ॥ १९२ ॥
काश्मीरोशीनरानर्त्तवत्सपंचालमालवाः ।
दशार्णाः कच्छमगधा विदर्भाः कुरुजांगलं ॥ १९३ ॥
करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोंकणाः ।
वनवासांध्रकर्णाटकोशलाश्चोलकेरलाः ॥ १९४ ॥
दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरांतकाः ।
विदेहसिंधुगांधारयवनाश्चेदिपल्लवाः ॥ १९५ ॥
कांबोजारट्टवाल्हीकतुरुष्कशककेकयाः ।
निवेशितास्तथान्येपि विभक्ता विषयास्तदा" ॥ १९६ ॥

आदिपुराण पर्व १६।

इनमें अश्मक रम्यक करहाट, महाराष्ट्र, आभीर कोंकण, वनवास आन्ध्र कर्णाट चोल केरल आदि देश दक्षिण भारतमें मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि भ ऋषभदेव द्वारा इन देशोंका अस्तित्व और संस्कार हुआ था। अतः दक्षिण भारतमें जैन धर्मका इतिहास उस ही समय अर्थात् कर्मभूमिकी आदिसे ही प्रारंभ होता है। इस अपेक्षा हमें उसे दो भागोंमें विभक्त करना उचित प्रतीत होता है अर्थात्,–

(१) **पौराणिक काल:**–इस अन्तरालमें भगवान ऋषभदेवसे २१ वें तीर्थंकर भ नमिनाथ तकका संक्षिप्त इतिहास समाविष्ट होजाता है।

(२) **ऐतिहासिक काल:**-इस अन्तरालमें उपरान्तके तीर्थंकरों और आगतक हुये महापुरुषोंका इतिहास गर्भित होता है। यह अन्तराल निम्न प्रकार तीन भागोंमें बांटना उपयुक्त है। अर्थात् –

(१) प्राचीनकाल (ई पूर्व ५ से ई पूर्व १)
(२) मध्यकाल (सन् १ से १३०० ई०)
(३) अर्वाचीनकाल (उपरान्त)

आगेके पृष्ठोंमें इसी उपर्युक्त क्रमसे दक्षिण भारतके जैन इतिहासका वर्णन करनेका उद्योग किया गया है। पहले ही पौराणिक काल का विवरण पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है।

पौराणिक काल।

दक्षिण भारतका इतिहास।

पौराणिक काल ।

(" भ० ऋषभदेव और सम्राट् भरत ")

भगवान ऋषभदेव अथवा वृषभदेव जैन धर्ममें माने गये इस अवसर्पिणीकालके पहले तीर्थंकर थे । जैन धर्ममें तीर्थंकरसे भाव उन महापुरुषसे है जो इस संसार–समुद्रसे पार उतारनेके लिये और मोक्षस्थानको प्राप्त होनेके लिये एक धर्म–तीर्थकी स्थापना करते हैं । ऋषभदेव एक ऐसे ही तीर्थंकर थे । पर साथ ही उनको 'कुलकर' या 'मनु' भी कहा गया है । यह इसलिये कि उन्होंने ही वस्तुतः मनुष्यको सभ्य और संस्कृत जीवन व्यतीत करना सिखाया था । यह पहले लिखा जा चुका है कि भगवान ऋषभदेव अन्तिम कुलकर नाभिराय और उनकी रानी मरुदेवीके सुपुत्र थे । हिन्दू पुराण ग्रन्थोंमें उनकी गणना अवतारोंमें की गई है और उन्हें आठवां अवतार कहा गया है ।

भगवानका जन्म चैत्र कृष्णा ९ को अयोध्यामें हुआ था और उनका जन्म–महोत्सव खूब धूमधामसे मनाया गया था । वह धर्मके प्रथम उपदेष्टा थे इसलिये उनका नाम 'श्री वृषभनाथ' रक्खा गया था । जिस समय वह रानी मरुदेवीके गर्भमें थे उस समय उनकी माताने सोलह शुभ स्वप्न देखे थे जिनके अंतमें एक सुन्दर बैल था । संस्कृतमें बैलको वृषभ कहते हैं और वह उस भावमें यह धर्मकर्मोंके लिये व्यवहृत हुआ है ।' इसलिये ही

१–भम पृ १२–१८ की [illegible]

भगवानका ध्वजचिन्ह भी 'वृषभ' (Bull) था। भगवान ऋषभदेवकी जो मूर्तियां मिलती हैं उनमें यह बैलका चिह्न मिलता है।[1]

भगवान ऋषभदेव स्वयं ज्ञानी थे। मानवोंमें सर्वश्रेष्ठ थे उनकी युवावस्थाकी चेष्टायें परोपकारके लिये होती थीं। उनने जनताका वास्तविक हित सधा था। वे स्वयं गणित, छंद, अलंकार व्याकरण, लेखन, चित्रलिपि आदि विद्याओं और कलाओंके ज्ञात थे और उन्होंने ही सबसे पहले इनका ज्ञान लोगोंको कराय था। पूर्ण युवा होनेपर उनका विवाह कच्छ महाकच्छ नामक दो राजाओंकी परम सुंदरी और विदुषी नंदा और सुनंदा नामक दो राजकुमारियोंके साथ हुआ था।

रानी सुनन्दाके समस्त भरतक्षेत्रका पहला सम्राट् भरत चक्रवर्ती नामका पुत्र और ब्राह्मी नामकी कन्या हुई थी। ऋषभदेव ब्राह्मीको ही पहले पहले लेखनकलाकी शिक्षा दी थी। इसीलि भारतीय आदि लिपि 'ब्राह्मी लिपि' कहलाती है। दूसरी रानी सुनन्दाके महाबलवान बाहुबलि और परमसुंदरी सुन्दरी नामक कन्या हुई थी। भरतके वृषभसेन आदि अट्ठानवे भाई और थे इन सब पुत्रोंको विविध प्रदेशोंमें राजप्रतिष्ठ करके ऋषभदेव निश्चि हुये थे। यह हम पहले लिख चुके हैं कि प्रजाकी आदि व्यवस्थ

---

[1] मोहनजोदरोकी मुद्राओंपर कतिपय कायोत्सर्ग मुद्राकी न मूर्तियां अंकित हैं जिनपर बैलका चिह्न भी है। रा० ब० रामप्रसाद चन्दा महाशय इन्हें भ० ऋषभदेवकी मूर्तिके समान प्रगट करते हैं। भ० ऋषभदेवने कायोत्सर्ग मुद्रामें तपश्चरण किया था। (Modern

भ० ऋषभदेव द्वारा ही हुई थी। भरत युवराज थे और ऋषभदेवके मुनि होजाने पर राज्याधिकारी हुये थे। उनके भाइयोंमेंसे कतिपयका राज्य दक्षिण भारतके निम्न लिखित प्रदेशोंमें था—

अस्मक मूलक, कलिंग, कुंतल महिषक महाराष्ट्र भोगवर्द्धन इत्यादि।

भगवान ऋषभदेव और उनकी सन्तान 'इक्ष्वाकु क्षत्रिय' कहलाते थे। यही इक्ष्वाकुवंश उपरान्त 'सूर्य' और 'चन्द्र' वंशोंमें विभक्त होगया था। सम्राट् भरतने सभ्यता और संस्कृतिके प्रचारके लिए छहों खंड पृथ्वीकी दिग्विजय की थी। उन्हींके नामकी अपेक्षा यह देश 'भारतवर्ष' कहा जाता है। भारतके उत्तर और दक्षिण भागोंका एक ही नाम होना इस बातका प्रमाण है कि समूचा देश भरत महाराजके अधिकारमें था। सारे भारतका तब एक ही राजा एक ही धर्म और एक ही सभ्यता थी।

नृत्यकारिणी नीलांजनाको नृत्य करते करते ही विलीयमान होता देखकर ऋषभदेवको वैराग्य उत्पन्न हुआ। चैत्र वदी नवमीके दिन भगवान् दिगम्बर मुनि हो तपश्चरण करने लगे। उनके साथ चार हजार अन्य राजा भी मुनि होगए। परन्तु कठिन मुनिचर्याको वह निभा न सके। इसलिये मुनिपदसे भ्रष्ट होकर वे नाना पाखण्डोंके प्रतिपादक हुये। इनमें भ० ऋषभदेवका पौत्र मरीचि प्रधान था उसने सांख्य मतके सदृश एक धर्मकी नींव डाली थी।

आखिर भ० ऋषभदेव सर्वज्ञ परमात्मा हुये और तब उन्होंने सारे देशमें विहार करके लोकका महान् कल्याण किया था। यह

इस कालमें आदि धर्म-देशना थी। भगवानने काशी, अवन्ती, कुरुजांगल, कोशल, सुह्म, पुंड्र, चेदि, अंग, वंग, मगध, अन्ध्र, कलिंग, भद्र, पंचाल मालव, दशार्ण, विदर्भ आदि देशोंमें विहार किया था। लोगोंको सन्मार्गपर लगाया था। अन्ततः कैलास पर्वत पर जाकर भगवान विराजमान हुये थे और वहींसे माघ कृष्णा चतुर्दशीको भगवान निर्वाणपदके अधिकारी हुये। भरत महाराजने उनके स्मारकमें वहां उनकी स्वर्ण-प्रतिमा निर्मित कराई थी।*

दक्षिण भारतके प्रथम सम्राट् बाहुबलि।

भगवान ऋषभदेवके दूसरे पुत्र बाहुबलि थे। यह महा बलवान और अति सुंदर थे। इसीलिये इनको पहला कामदेव कहा गया है। भगवान ऋषभदेवने बाहुबलिको अश्मक-रम्यक अथवा सुरम्य देशका शासक नियुक्त किया था और वह पोदनपुरसे प्रजाका पालन करते थे। अपने समयके अनुपम सुन्दर और श्रेष्ठ शासकको पाकर उनकी प्रजा अतीव संतुष्ट हुई थी। यही वजह है कि आज भी उनकी पवित्र स्मृति लोगोंके हृदयोंमें सजीव है।

दक्षिण भारतके लोग उन्हें 'गोमट्ट' अर्थात् 'कामदेव' नामसे स्मरण करते हैं और निस्सन्देह वह कामदेव थे। परन्तु कामदेव होते हुये भी बाहुबलि नीति और मर्यादा धर्मके आदर्श थे। साथ ही उनकी मनोवृत्ति स्वाधीन और न्यायानुमोदित थी। वह अन्यायके प्रतिकार और कर्तव्य पालनके लिये मोह ममता और कायरतासे

---

* विशेषके लिये आदिपुराण व संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम

से रहते थे। 'स्वार्थ' नहीं-'कर्तव्य' उनका मार्गदर्शक था। इसीलिये वह एक आदर्श सम्राट् और महान योगीके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

'चक्रवर्ती'-पदको सार्थक बनानेके लिये अपने और पराये सब ही शासकोंको एकदफा नतमस्तक बना देना भारतमें राजनीतिका तकाजा रहा है। सम्राट् भरतको चक्रवर्ती होना था। उन्होंने षट्खण्ड पृथ्वी जीत ली थी। परन्तु उनके भाई अभी बाकी थे। सम्राट्ने चाहा कि उनके भाई केवल उनकी आन मान लें। पर वे सब स्वाधीन वृत्तिके धनी थे। उन्होंने भाईके स्वार्थ और ऐश्वर्य-मदको विवेक नेत्रसे देखा और सोचा— 'यह पृथ्वी पिताजीने हमें दी है। हमारे बड़े भाई इसपर अपना अधिकार चाहते हैं। हम इससे मोह क्यों करें? पिताजी इसे छोड़ गये। आओ हम भी इसे त्याग दें।' उन्होंने जैसा सोचा वैसा कर दिखाया। वे सब तीर्थंकर ऋषभदेवके चरणकमलोंमें जाकर मुनि होगये।

भरतके भाइयोंमें बाहुबलि बाकी रहे। भरत महाराजने मंत्रियोंकी सम्मतिको आदर देकर अपना दूत उनके पास भेजा। दूतने बहुतसी उदार चतुराईकी बातें कहीं; परन्तु बाहुबलिपर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। उन्होंने दूतके द्वारा भरत महाराजको रणाङ्गणमें आनेके लिये निमंत्रण भिजवा दिया। सम्राट् भरत पहलेसे ही इस अवसरकी प्रतीक्षामें थे। उन्होंने अपनी चतुरंगिणी सेना सजाई और वह लावलश्कर लेकर पोदनपुरके लिये चल दिये।

इधर बाहुबलिकी सेना भी उत्साहसे सुसज्जित हो रणक्षेत्रमें आडटी। दोनों सेनायें आमने-सामने युद्धके लिए तैयार थीं। दो

नरपुंगवोंकी जबान हिलाने भरकी देर थी कि लाखों नरमुंड धरातल पर लोटते दिखाई देते। परन्तु दोनों शासकोंके राजमंत्रियोंका विवेक जागृत हुआ। उन्होंने देखा, यह निरर्थक हिंसा है—अनर्थदण्ड है। इसे क्यों न रोका जाय? दोनोंने नरशार्दूलोंको समझाया। निरपराध मनुष्योंकी अमूल्य जानें क्यों जायें? स्वयं भरत और बाहुबलि ही अपने बल पौरुषकी परीक्षा करलें। यही निश्चित हुआ। मल्लयुद्ध—नेत्रयुद्ध आदि कई प्रकारके युद्धोंमें दोनों वीरोंने अपने भाग्योंकी परीक्षा की, परन्तु बाहुबलिका पौरुष महान था। भरत उनको न पा पाये। वह खिसिया गये।

अपमानके परितापसे वह ऐसे क्षोभित हुए कि उन्होंने अपने भाई पर ही चक्र चला दिया, किन्तु सगोत्री होनेके कारण चक्र भी बाहुबलिका कुछ न बिगाड़ सका। हाँ, भरतकी यह स्वार्थपरता देखकर उनके हृदयको गहरी चोट पहुँची। उनको राज पाट हेय जँचने लगा। उन्होंने मनुष्यकी माया ममताको धिक्कारा और वस्त्राभूषण त्याग कर दिगम्बर मुनि होगए। भरत नतमस्तक होकर अयोध्या लौट आये। पोदनपुरमें बाहुबलिका पुत्र राज्यशासन करने लगा और उन्हींकी सन्ततिका वहां अधिकार रहा।

पोदनपुरमें रहकर बाहुबलिने घोर तपश्चरण किया। वह कायोत्सर्ग मुद्रामें शान्त और गंभीर बने हुए एक सालतक लगातार ध्यानमग्न रहे। चींटियोंने उनके पावोंके सहारे बांबियां बनालीं, लतायें उनके शरीर पर चढ़ गईं, परन्तु उनको ज़रा भी खयाल न हुआ। उधर भरतमहाराजको भी भाईके दर्शन करनेकी अभिलाषा

हुये। वह पोदनपुर गये। उन्होंने बड़े प्रेमसे राजर्षि बाहुबलिकी वन्दना की। बाहुबलि निराकुल हुए। उन्होंने अपने ध्यानको और भी विशुद्ध बनाया और घातिया कर्मोंका नाश कर दिया। वह केवलज्ञानी होगए। देवोंने उत्सव मनाया। भरतमहाराजने उनके केवलज्ञानकी पूजा की। बाहुबलिने भावुक श्रोताओंको धर्मामृत पान कराया। और वह सारे देशमें विहार करने लगे। भरतमहाराजने उनकी पवित्र स्मृतिमें पोदनपुरमें एक स्वर्णमूर्ति उन्हींके आकारकी स्थापित कराई; जो वहाँ एक लम्बे समय तक विद्यमान रही।

विहार करते हुए राजर्षि बाहुबलि कैलाश पर्वतपर पहुँचे और वहाँपर उन्होंने पूर्ण ध्यानका आश्रय लिया, जिसके परिणाम स्वरूप वह निर्वाणके अधिकारी हुए।

विद्वानोंका अनुमान है कि बाहुबलि ही दक्षिणभारतके पहले सम्राट् धर्मामृत वर्षा करके मोक्षधाम जानेवाले पहले मनुष्य थे। हमारे विचारसे यह मान्यता है भी ठीक क्योंकि बाहुबलिका राज्यप्रदेश अश्मकरम्यक और पोदनपुर दक्षिणभारतमें ही अवस्थित प्रमाणित होते हैं। यद्यपि कोई २ विद्वान् पोदनपुरको भारतकी पश्चिमोत्तर सीमामें अवस्थित और प्राय तक्षशिला ही अनुमान करते हैं परन्तु उनकी यह मान्यता युक्तिपुरस्सर नहीं है। निम्न पंक्तियोंमें पाठकगण पोदनपुरको प्राचीन दक्षिणापथमें अवस्थित सिद्ध हुआ पढ़ेंगे।

जैन संघमें पोदनपुरका वर्णन अनेक स्थलोंपर आया है और

१—पद्मपुराण चतुर्थ पर्व श्लो ६७—७०

उनका उल्लेख आगेके पृष्ठोंमें पाठकगण यथास्थान पढ़ेंगे। सबसे पहले इसका उल्लेख बाहुबलिजीके सम्बन्धमें हुआ मिलता है। 'महापुराण' में लिखा है कि भरतके दूतने पोदनपुरको शालिचावल और गन्नेके खेतोंमें लहलहाता पाया था और वह 'मंदयान' दिनोंमें ही वहां पहुंच गया था। 'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि दूत अयोध्यामे पश्चिम दिशाको चलकर पोदनपुर पहुंचा था।[2]

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि पोदनपुर अयोध्यामे बहुत ज्यादा दूर नहीं था और न वह अयोध्यासे उत्तर दिशामें था, जैसे कि तक्षशिला होनी चाहिये। उसके आसपास शालिचावल और गन्ना होते थे। तक्षशिलामें यह चीजें शायद ही मिलती हों। साथ ही तक्षशिलामें एक बृहत्काय बाहुबलि मूर्तिके अस्तित्वका पता नहीं चलता, जोकि पोदनपुरका खास स्मारक था।

बाहुबलिके अतिरिक्त पोदनपुरका खास उल्लेख भगवान पार्श्वनाथके पूर्वभव चरित्रमें मिलता है। भगवान पार्श्वनाथ अपने पहले भवमें पोदनपुरके राजा अरविन्दके पुरोहित विश्वभूतिके सुपुत्र मरुभूति थे। उनके भाई कमठ थे। कमठ दुष्ट प्रकृतिका मनुष्य था। उसने मरुभूतिकी स्त्रीसे व्यभिचार सेवन किया, जिसका दण्ड उसे देशनिकाला मिला।

१–'शालिवप्रेषु'–'शालीक्षुवीरक्षेत्रैर्वृत' (३९ पर्व)
"क्रमेण देशान् सिन्धूंश्च देशसन्धींश्च सोऽतित्यन् ।
प्रापत् संख्यातरात्रैस्तत्पुरं पोदनाह्वयम् ॥"
२–हरिवंशपुराण, सर्ग ११ श्लोक ७९ ।

वह पोदनपुरसे चलकर भूताचल पर्वतपर एक तापसाश्रममें कुतप तपने लगा। मरुभूति मरकर मलयपर्वतके कुब्जकसल्लकी वनमें हाथी हुआ। वह वहाँ वेगवती नदीके किनारेपर रहता था। उत्तर पुराण'[1] में स्पष्ट शब्दोंमें पोदनपुरको दक्षिणभारतके सुरम्यदेशमें अवस्थित किया है। श्री वादिराजसूरिने भी पोदनपुरको सुरम्यदेशमें शालिधान्यके खेतोंसे भरपूर लिखा है।[2] वहाँसे भूताचल पर्वत अधिक दूर नहीं था। श्रीजिनसेनाचार्यने भूताचलके स्थानपर रामगिरि पर्वत लिखा है। अब यह देखना चाहिये कि पोदनपुरके निकटवर्ती उपरोक्त स्थान कहाँपर थे?

पहले ही भूताचल या रामगिरि पर्वतको लीजिये। श्री जिनसेनाचार्यने रामगिरिका उल्लेख भूताचलके लिये किया है इसलिये यह अनुमान करना ठीक है कि रामगिरि और भूताचल एक ही पर्वतके भिन्न नाम थे अथवा एक पर्वतकी दो शिखरोंके नाम थे। रामगिरि नागपुर जिलेका रामटेक है[4] जो आज भी एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। श्री उग्रादित्याचार्यने रामगिरिके जैन मंदिरमें ही बैठकर ग्रंथ रचना की थी। उन्होंने उसे त्रिकलिंग देशमें अवस्थित

१– 'जम्बूविशेषणे द्वीपे भरते दक्षिणे महान्।
सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्णं पोदनं पुरं॥'

२–पार्श्वनाथचरित् प्रथम सर्ग श्लोक १७–१८, ४८ व सर्ग २ श्लोक ६९।

३–पार्श्वाभ्युदयकाव्य– की भूमिका –टिप्पणि पत्र देखो।

४–जैन सिद्धांत भास्कर ([illegible]) भा ३ पृ ४३–४७।

लिखा है, जिसे विद्वज्जन आधुनिक मध्यप्रांत ही प्रगट करते हैं।[१] अब जब रामगिरि रामटेक है तो भूताचल भी वहीं कहीं होना चाहिये ।

हमारे मित्र श्री गोविन्द पै नागपुर डिवीजनके बेतूल जिलेको भूताचल अनुमान करते हैं। उसके आसपास पर्वत हैं और वह अश्मकदेशसे भी दूर नहीं है, जैसे कि प्राचीन भारतके नकशेसे स्पष्ट है।[२] हिन्दू 'मत्स्यपुराण' से एक 'तापस' नामक प्रदेशका दक्षिणापथके उत्तर भागमें होना प्रगट है,[३] जो यूनानी लेखक टोल्मीका मध्यदेशवर्ती 'तबसै' (Tabassoi) प्रतीत होता है। अतः यह संभव है कि कमठ व तापस देशमें स्थित भूताचल या रामगिरि पर्वतपर कुतप तपने गया था। जो हो, यह स्पष्ट है कि पोदनपुरके निकट अवस्थित उपरोक्त पर्वत दक्षिणापथके उत्तरीय भागमें विद्यमान थे।

अब मलय पर्वत और कुब्जकसल्लकी वनको लीजिये। कनिंघम सा०ने मलयपर्वतको द्राविड़ देशमें स्थित बताया है।[४] चीनदेशके यात्री ह्वानत्सागने उसे कांचीसे दक्षिणकी ओर ३०००

१–' वेङ्गीश त्रिकलिङ्ग देश रम्ये रामगिराविद ।'

—जैसिभा० २ पृ० ९३ ।

२–प्रो० मुकरजीकी 'Fundamental Unity of India' नामक पुस्तकमें छपा हुआ प्राचीन भारतका नकशा देखो।

३–मत्स्यपुराण (Panini office ed., S B H. Vol. XVII) ch. CXIV

सीमकी दूरीपर लिखा है।[1] वेणवती नदी भी द्राविड़देशमें है।[2] मध्यपर्वतपर चन्दन वृक्षोंका वन था। यही कुन्दकुन्दस्वामीका वन अनुमान किया जासकता है। इसप्रकार पोदनपुरके पासमें अवस्थित वे उपरोक्त स्थान भी दक्षिण भारतमें मिलते हैं। पोदनपुर इससे उत्तरकी ओर होना चाहिये क्योंकि 'भुजबलि चरित' में उल्लेख है कि गङ्ग सेनापति चामुण्डराय पोदनपुरकी यात्रा करनेके लिए उत्तरकी ओर चलते हुये श्रवणबेलगोल पहुंचे थे।[3]

अब रहा सुरम्य देश जिसकी राजधानी पोदनपुर थी। यह देश भी दक्षिणभारतमें अवस्थित मिलता है। यूनानी लेखक टोल्मीने 'रमनै (Ramnai) नामक एक प्रदेश मध्यभारतमें लिखा है जो वर्तमानके मध्यप्रान्त बरार और निजाम राज्यके कुछ अंश मिलता था। संभवतः यह रमनै ही जैनोंका सुरम्य देश है। आदिपुराण में इसीका नाम संभवतः अश्मकरम्यक है।

अब जरा अजैन साक्षीपर भी ध्यान दीजिये। बौद्ध शास्त्रोंमें पोदनपुर अस्सकदेशकी राजधानी कहा गया है तथा 'सुत्तनिपात' में अस्सकदेश गोदावरी नदीके निकट सह्य पर्वत, पश्चिमी घाट और दण्डकारण्यके मध्य अवस्थित लिखा है।[4] संस्कृत भाषाके कोष 'शब्दाभिधान्' में पौण्डन्य राजा अश्मककी राजधानी कही गई है और 'रामायण (किष्किन्धाकाण्ड) में अश्मक देश भारतके दक्षिण

---

[1] पूर्व पृ ७२५। [2] पूर्व पृ ७२९।
[3] श्रवणबेलगोल पृ १–११।
[4] जर्नल भाग २२ पृ २११।

या दक्षिण पश्चिमोत्तर भागमें बताया गया है।[1] किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अजैन ग्रंथोंका पोदन या पौण्ड्य और अश्मकदेश जैनशास्त्रोंका पोदनपुर और सुरम्यदेश है? हमारे ख्यालसे उन्हें एक मानना युक्तिसंगत है।

आदिपुराणानुसार सुरम्यदेशका अपरनाम यदि अश्मक-रम्यक माना जाय तो अश्मकदेशको सुरम्य माना जासकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अश्मकका अपर नाम रम्यक या सुरम्य था अथवा यह भी संभव है कि उसके उपरान्त दो भाग अश्मक और रम्यक होगए हों। यह स्पष्ट ही है कि अश्मक और रम्यक प्रायः एक ही दक्षिणापथवर्ती प्रदेश था। 'हरिवंशपुराण' में अश्मकको दक्षिण देश ही लिखा है।[2]

अजैन लेखकोंने भी अश्मकको दक्षिणभारतका देश लिखा है। वराहमिहिरने आंध्रके बाद अश्मकको गिना है।[3] राजशेखरने भी 'काव्यमीमांसा' में अश्मकको दक्षिणदेश लिखा है।[4] शाकटायनने साल्व (आंध्रों) के बाद अश्मकका उल्लेख किया है।[5] कौटिल्यने अश्मकको हीरोंके लिये प्रख्यात और राष्ट्रिकोंके बाद लिखा है।[6]

विन्ध्याचलके परे प्राचीन दक्षिणापथमें हमें हीरोंकी प्रसिद्ध

१-अजैग० भा० २२ पृ० २११।

२-हरि० सर्ग ११ श्लोक ७०-७१।

३-वराहमिहिरसंहिता परि० १६ श्लो० ११।

४-G. O. S., Vol. I, ch XVII P. 92.

५-(२।४।१०१)

६-अर्थशास्त्र, अधिकार २, प्रकरण २९।

दूसरे तीर्थंकर भ० अजितनाथके समयमें सगर चक्रवर्ती हुये थे। उन्होंने षट्खंड दिग्विजय किये थे जिसका अर्थ यह होता है कि उन्होंने दक्षिणभारतको भी विजय किया था। उनके पश्चात् कालानुसार मघवा, सनत्कुमार सुभौम पद्म, हरिषेण आदि चक्रवर्ती हुये थे जिन्होंने भी अपनी दिग्विजयमें दक्षिणभारत पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई थी।

भ० श्रेयांसनाथके समयमें दक्षिणापथवर्ती पोदनपुरके राजा प्रजापति थे। उनकी महारानीका नाम मृगवती था। उनके एक यशस्वी पुत्र जन्मा, जिसका नाम उन्होंने तृपृष्ठ रक्खा। यही तृपृष्ठ जैनशास्त्रोंमें पहले नारायण कहे गये हैं। तृपृष्ठकी विमातासे उत्पन्न विजय नामक भाई बड़े बलदेव थे। तृपृष्ठ और विजयमें परस्पर बहुत ही प्रेम था।

नारायण तृपृष्ठने प्रतिनारायण अश्वग्रीवको युद्धमें हराकर दक्षिण भारतको अपने आधीन किया था। तृपृष्ठकी पटरानी स्वयंप्रभा थी और उसके ज्येष्ठ पुत्रका नाम श्रीविजय था। श्रीविजयका विवाह सुताराके साथ हुआ था। तृपृष्ठके बाद पोदनपुरके राजा श्रीविजय हुये थे। उनके भाई विजयभद्र युवराज थे। सुताराको एक विद्याधर हर लेगया था। श्रीविजयने युद्ध करके सुताराको उस विद्याधरसे वापस लिया था। राजा प्रजापति और बलदेवविजयने मुनिव्रत धारण कर कर्मोंका नाश किया था; परन्तु तृपृष्ठ बहु परिग्रही होनेके कारण नरकका पात्र बना था। तो भी इसमें शक नहीं कि दक्षिण भारतका यह दूसरा प्रसिद्ध और बलवान राजा था।[1]

---

[1] १–पर्व १७ व पर्व ६२ देखो।

नरेशकी राजधानी पोदनपुर दक्षिणापथमें ही प्रमाणित होती है।[1] बाहुबलि दक्षिण भारतके पहले सम्राट् थे और पहले साधु थे। दक्षिण भारतमें आज भी उनकी बृहत्काय पाषाणमूर्तियां इस स्मारकको जीवित बनाये हुए हैं।

“अन्य तीर्थंकर और नारायण तृपृष्ट।”

भगवान् ऋषभदेवके अतिरिक्त पौराणिक कालमें भगवान अजितनाथसे भगवान् अरिष्टनेमि पर्यन्त २१ तीर्थङ्कर और हुये थे। इन तीर्थङ्करोंने भी केवलज्ञान प्राप्त करके उत्तर और दक्षिणभारतमें विहार किया और धर्मोपदेश दिया था। 'उत्तरपुराण' में लिखा है[2] कि मलयदेशके भद्रपुरमें तीर्थङ्कर शीतलनाथका जन्म हुआ था। और वहींपर मुंडशालयन नामक एक ब्राह्मण रहता था, जिसने लोभ कषायके वश हो करके ऐसे शास्त्रोंकी रचना की कि जिनमें ब्राह्मणोंको सोने चादीका दान देनेका वर्णन था।

उन शास्त्रोंको राजदरबारमें उपस्थित करके उसने दान दक्षिणामें बहुतसा धन प्राप्त किया था। यहींसे मिथ्या मतका प्रचार हुआ कहा गया है। मलयदेश द्राविड़क्षेत्रमें माना जाता है। इसलिये भद्रपुर भी वहीं अवस्थित प्रगट होता है, किन्तु आधुनिक मान्यतानुसार शीतलनाथ भगवानका जन्मस्थान वर्तमान भेलसा है, जो मध्यप्रदेशमें अवस्थित है। इस मान्यताका क्या आधार है, यह ज्ञात नहीं है।

१–विशेषके लिये 'बूलनर कमोमेरेशन वाल्यूम' (लाहोर) में हमारा 'पोदनपुर और तक्षशिला' शीर्षक लेख देखो।

२–उपु० ५६।२३–८९।

दूसरे तीर्थंकर भ० अजितनाथके समयमें सगर चक्रवर्ती हुये थे। उन्होंने षट्खंड दिग्विजय किये थे जिसका अर्थ यह होता है कि उन्होंने दक्षिणभारतको भी विजय किया था। उनके पश्चात् कालानुसार मघवा सनत्कुमार सुभौम, पद्म, हरिषेण आदि चक्रवर्ती हुए थे जिन्होंने भी अपनी दिग्विजयमें दक्षिणभारत पर अपनी विजय—वैजयन्ती फहराई थी।

भ० श्रेयांसनाथके समयमें दक्षिणापथवर्ती पोदनपुरके राजा प्रजापति थे। उनकी महारानीका नाम मृगवती था। उनके एक भाग्यशाली पुत्र जन्मा जिसका नाम उन्होंने तृपृष्ठ रक्खा। यही तृपृष्ठ जैनशास्त्रोंमें पहले नारायण कहे गये हैं। तृपृष्ठकी विमातासे उत्पन्न विजय नामक भाई पहले बलदेव थे। तृपृष्ठ और विजयमें परस्पर बहुत ही प्रेम था।

नारायण तृपृष्ठने प्रतिनारायण अश्वग्रीवको युद्धमें हराकर दक्षिण भारतको अपने आधीन किया था। तृपृष्ठकी पट्टरानी स्वयंप्रभा थी और उसके ज्येष्ठ पुत्रका नाम श्रीविजय था। श्रीविजयका विवाह ताराके साथ हुआ था। तृपृष्ठके बाद पोदनपुरके राजा श्रीविजय हुये थे। उनके भाई विजयभद्र युवराज थे। ताराको एक विद्याधर हर लेगया था। श्रीविजयने युद्ध करके ताराको उस विद्याधरसे वापस लिया था। राजा प्रजापति और बलदेवविजयने मुनिव्रत धारण कर कर्मोंका नाश किया था, परन्तु तृपृष्ठ बहु परिग्रही होनेके कारण नरकका पात्र बना था। तो भी इसमें शक नहीं कि दक्षिण भारतका यह दूसरा प्रसिद्ध और बलवान राजा था।[1]

---

[1] —पर्व ९७ व पर्व ६२ देखो।

नारायण द्विपृष्ट।

दूसरे नारायण द्विपृष्ठ भगवान वासुपूज्यके समयमें हुये थे। यद्यपि उनका जन्म द्वारावती नगरीमें हुआ था, परन्तु उनके पूर्वभवका सम्बन्ध दक्षिण भारतसे अवश्य था। अपने पूर्वभवमें वह कनकपुरके राजा सुषेण थे। उनकी गुणमजरी नामक नृत्यकारिणी सुंदरी और विद्वान् थी। मलयदेशके विंध्यपुर नगरमें राजा विंध्यशक्ति राज्य करता था। उसने गुणमजरीकी प्रसिद्धि सुनी और सुनते ही उसने सुषेणसे उसे मंगवा भेजा। और जब सुषेणने उसे राजीसे नहीं दिया तो वह सुषेणको युद्धमें परास्त करके जीत लाया। सुषेण मुनि होगया और आयु पूरी कर स्वर्गमें देव हुआ।

वहासे चयकर वही नारायण द्विपृष्ट हुआ। विंध्यशक्तिसे उसका पूर्व वैर था–उसे वह भूला नहीं। विंध्यशक्तिका जीव ससारमें रुल कर भोगवर्द्धनपुरके राजाके यहा तारक नामक श्यामवर्ण पुत्र हुआ। तारक राजा होनेपर एक प्रभावशाली शासक और विजेता सिद्ध हुआ। तारकने द्विपृष्टसे भी कर मागा, परन्तु द्विपृष्टने इसे अपना अपमान समझा। इसी बातको लेकर दोनोंमें घमासान युद्ध हुआ, जिसमें तारकको अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़े। द्विपृष्टने तीन खंड पृथ्वीका स्वामित्व प्राप्त किया। दिग्विजय करके उन्होंने प्रतीप नामक पर्वतपर श्री वासुपूज्य स्वामीकी वन्दना की। द्विपृष्ट यद्यपि बलवान राजा था, परन्तु वह इन्द्रियोंका गुलाम था। इसी लिये शास्त्रोंमें कहा गया है कि वह मरकर नरकका पात्र हुआ।[१]

---

[१] उपु० ५८।६१–७७।

पोदनपुरके अन्य राजा।

तीर्थंकर विमलनाथके समयमें गणधर मेरुमंदर और मुनि संजयंत हुए थे। उनके पूर्वभवके वर्णनमें पोदनपुरके राजा पूर्णचन्द्रका उल्लेख है। राजा पूर्णचन्द्रको साकेतके राजा आदित्यगतिकी पुत्री हिरण्यवती ब्याही गई थी। उनका पुत्र सिंहचंद्र था।[1] पूर्णचंद्रकी पुत्री रामदत्ताका ब्याह सिंहपुरके राजा सिंहसेनके साथ हुआ था।[2]

तीर्थंकर अनंतनाथके समय सुप्रभ नामके बलभद्र और पुरुषोत्तमनारायण हुये थे। उनके पूर्वभवान्तरोंमें पोदनपुरके राजा वसुसेनका उल्लेख है। वसुसेनकी महारानी नंदा परमपवित्र और अनुपम सुन्दरी थी। वसुसेनका मित्र मलयदेशका राजा चंडशासन था। एकदा वह उससे मिलने आया। रानी नंदाके रूपलावण्यपर वह आसक्त होगया और किसी उपायसे उसे हरकर वह अपने नगर लेगया। राजा वसुसेन विरक्त हो मुनि होगया।

राजर्षि बाहुबलीकी ही वंशपरंपरामें उपरांत वह राजा तृणपिंगल हुआ। उसकी पट्टरानीका नाम सर्वयशादेवी था। उनके मधुपिंगल नामक सुन्दर पुत्र था। अयोध्याके सगरने चालाकीसे उसे दूषित शरीर ठहराकर एक स्वयंवरसे निकलवा दिया था; जिस क्रोधको लेकर वह मरा और महाकाल नामका असुर हुआ। इस महाकालने अपना बैर चुकानेके लिए यज्ञमें पशुओंके होमनेकी प्रथाका श्रीगणेश किया था।

१–उपु ५९।२ ८–९। २ हरि २७।९९।
३–उपु ६।१९–१७। ४–उपु ६७।२१२–२१।

पोदनपुरके एक अन्य राजा सुप्रतिष्ठ थे। यह राजा सुस्थित और रानी सुलक्षणाके सुपुत्र थे। कारण पाकर यह विरक्त होकर सुधर्माचार्यके चरण-कमलोंमें मुनि होगये। हरिवंशके महापुरुष अंधकवृष्णि आदिने इन सुप्रतिष्ठ मुनिराजसे धर्मोपदेश सुनकर मुनिव्रत धारण किये थे। मुनिराज सुप्रतिष्ठका शौरसेन देशमें कईबार विहार हुआ था। आखिर वहींके गंधमादन पर्वतपर उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ था और वे मोक्षपदके अधिकारी हुये थे।[1]

पांडवोंके समयमें पोदनपुरका राजा चन्द्रवर्मा था। वह राजा चन्द्रदत्त और रानी देविलाका पुत्र था। राजा द्रुपदके एक मन्त्रीने उसके साथ द्रौपदीका व्याह करनेकी बात कही थी।[2]

'भविष्यदत्त कथा' में पोदनपुरके एक राजाका युद्ध हस्तिनापुरके राजा भूपालके साथ हुआ वर्णित है। इस युद्धमें पोदनपुर नरेशको पराजित होना पड़ा था।[3]

चक्रवर्ती हरिषेण।

तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथजीके समयमें चक्रवर्ती हरिषेण हुये थे। उनका जन्म भोगपुरके महाराज इक्ष्वाकुवंशी राजा पद्मकी रानी ऐरादेवीकी कोखसे हुआ था। भोगपुर संभवत दक्षिण भारतका

१-उपु० ७०-१३७ । २-उपु० ७२-२०१ ।
३-भविष्य० संधि १३।

भोई नगर था। इसी नगरमें उनके पहले मल्लिनाथस्वामीका जन्म हुआ था। दक्षिण भारतमें इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंका राज्य एक समय रहा था। इसलिये ही यह अनुमान ठीक है कि हरिषेण चक्रवर्तीका सम्बन्ध दक्षिण भारतसे था।

हरिषेण बालकपनसे ही धर्मरुचिको लिये हुए थे। एक रोज वह अपने पिता राजा पद्मनाभके साथ अनन्ततीर्थ मुनिराजकी वंदना करने गए। मुनिराजसे उन्होंने धर्मोपदेश सुना। राजा पद्मनाभ विरक्त होकर मुनि होगये और हरिषेणने श्रावकके व्रत लिये।

जब पद्मनाभको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तब ही हरिषेण चक्रवर्तीको चक्ररत्नकी प्राप्ति हुई। हरिषेणने पहले केवली भगवानकी वन्दना की पश्चात् षट्खण्ड पृथ्वीको विजय किया। इस दिग्विजयमें उन्होंने निस्सन्देह दक्षिण भारतको भी विजय किया था।

हरिषेण धर्मात्मा सम्राट् थे। उन्होंने एकदा अष्टाह्निका महामहकी पूजा की, जिससे उनके परिणाम धर्मरससे अधिक होगये। उन्होंने महाशिखर पर बैठेर पूर्णचन्द्रको राहुग्रसित देखा जिससे उन्हें वैराग्य होगया। अपने पुत्र महासेनको राज्य देकर उन्होंने सीमंतक पर्वतपर श्री नाग मुनीश्वरके निकट दीक्षा ग्रहण करली। मुनि हरिषेणने खूब तप तपा और समाधिमरण द्वारा आयु समाप्त करके सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्रपद पाया।[1]

---

[1] १–उपु ६७–८४..........।

श्री राम, लक्ष्मण और रावण।

पूर्व भव।

भगवान मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थकालमें बलदेव और नारायण श्री राम और लक्ष्मण हुये थे। वे अयोध्याके राजा दशरथके सुपुत्र थे। बाल्यावस्थासे ही उनकी प्रतिभा और पौरुषका प्रकाश हुआ था। यद्यपि उनका जन्म और प्रारम्भिक जीवन उत्तर भारतमें व्यतीत हुआ था, परन्तु उनका सम्बन्ध दक्षिण भारतसे उनके उस जन्मसे भी पहलेका था और उपरात युवावस्थामें जब वे दोनों भाई वनवासमें रहे तब उनका अधिकांश समय दक्षिण भारतमें ही व्यतीत हुआ था। अच्छा, तो राम और लक्ष्मणके जीव अपने एक पूर्वभवमें दक्षिण भारतकी सुभूमि पर केलि करते थे।

दक्षिणके मलय देशमें एक रत्नपुर नामका नगर था। उस नगरका प्रजापति नामका राजा था। उसका एक लड़का था, जिसका नाम चन्द्रचूल था। चन्द्रचूलका प्रेम राजमंत्रीके पुत्र विजयसे था। अपने मा-बापके यह दोनों इकलौते बेटे थे। दोनोंका बेढब लाड़ प्यार होता था। लाड़प्यारकी इस अधिकताने उन्हें समुचित शिक्षासे शून्य रक्खा। मा-बापके अनुचित मोह-ममताने उनके जीवन बिगाड़ दिये। वे दोनों दुराचारी होगये।

रत्नपुरमें कुबेर नामका एक बड़ा व्यापारी रहता था। उसका बड़ा नाम और बड़ा काम था। कुबेरदत्ता उसकी कन्या थी। वह अनुपम सुन्दरी थी। युवावस्थाको प्राप्त होने पर कुबेरदत्तने अपनी उस कन्याका व्याह उसी नगरमें रहने [illegible] एक दूसरे प्रख्यात् सेठ

वैश्रवणके पुत्र श्रीदत्तके साथ करना निश्चित किया । उधर राजकुमार चन्द्रचूडके कान तक कुबेरदत्ताके अनुपम रूप—सौन्दर्यकी चर्चा पहुंची । वह दुराचारी तो था ही—उसने कुबेरदत्ताको अपने आधीन करनेके लिये कमर कस ली । राजकुमारका यह अन्याय देख कर वैश्य समुदाय इकट्ठा होकर राजदरबारमें पहुंचा और उन्होंने इस अत्याचारकी शिकायत महाराज प्रजापतिसे की ।

महाराज प्रजापति अपने पुत्रसे पहले ही अप्रसन्न थे । इस समाचारको सुनते ही वह आग—बबूला होगये । उन्होंने न्याय—दण्डको हाथमें लिया और कोतवालको चंद्रचूड तथा उसके मित्र विमलको प्राणदण्ड देनेकी आज्ञा दी । राजाके इस निष्पक्ष न्याय और कठोर दण्डकी चर्चा पुरवासियोंमें हुई । इधर मन्त्रीका पुत्रमोह जागा । वह नगरवासियोंको लेकर राजाकी सभामें उपस्थित हुआ ।

सबने राजासे प्रार्थना की कि 'वह अपनी कठोर आज्ञा लौटा लें'—राज्यका एक मात्र उत्तराधिकारी चंद्रचूड है, उसको प्राणदान दिया जाय । किन्तु राजाने यह कहकर उन लोगोंकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी कि 'आप लोग मुझे न्यायमार्गसे च्युत करना चाहते हैं, यह अनुचित है ।' सब चुप होगए । राजहठ और सो भी प्रसिद्ध ! किसका साहस था जो मुंह खोलता ।

इस परिस्थितिमें मंत्रीने अपनी बुद्धिसे काम लिया । उन्होंने दोनों कुमारोंको प्राणदण्ड देनेका भार अपने ऊपर लिया । वह अपने पुत्र और राजकुमारको लेकर वनगिरि नामक पर्वतपर गए । वहांपर महाबल नामक मुनिराज विराजमान थे । दोनों ही भाग्यवानोंने उन

साधु महाराजकी वन्दना की और धर्मोपदेश सुना, जिससे उनके भाव शुद्ध होगये। उन्हें अपने पर बहुत ग्लानि हुई। अपनी करनीपर वह पछताने लगे। संसारसे उन्हें वैराग्य हुआ-नाशवान जीवनमें उन्होंने अमरत्वका रस पाया। वे झटपट गुरुके चरणोंमें गिर पड़े। गुरु विशेष ज्ञानी थे, उन्होंने अपने ज्ञान–नेत्रोंसे उनका भावी अभ्युत्थान देखा। चटसे उन्होंने उन दोनों युवकोंको अपना शिष्य बना लिया। मंत्री यह देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और अपना काम बनाकर वह रत्नपुर लौट गया।

मुनि होकर चन्द्रचूल और विनय नये जीवनमें पहुंच गये। उनकी कायापलट होगई। अग्निमें तपकर सोना विशुद्ध होजाता है ठीक वैसे ही तपकी अग्निमें प्रवेश करके उन दोनों युवकोंकी आत्मायें अपनी कालिमा खोकर बहुत कुछ शुद्ध होगई। किन्तु इस उच्च दशामें भी उन्हें एक कामनाने अपना शिकार बनाया। उन्होंने निदान किया कि हम दोनोंको क्रमश नारायण और बलभद्रका ऐश्वर्यशाली पद प्राप्त हो। वह आयुके अंतमें इस इच्छाको लिये हुए मरे। मरते समय उन्होंने शुभ आराधनायें आराधीं। दोनों कुमारोंके जीव सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुए। देव पर्यायके सुखभोगकर वे चये और अयोध्यामें राम और लक्ष्मण हुए।

जब राम और लक्ष्मण युवक कुमार थे तब भारतपर अर्द्धबर्बर देशके रहनेवाले म्लेच्छोंका आक्रमण हुआ।

राम और लक्ष्मण। राजा जनकने राम और लक्ष्मणकी सहायतासे इन म्लेच्छोंको मार भगाया था।

युद्धमें हारे हुए म्लेच्छ अपने प्राण लेकर विन्ध्याचलकी पहाड़ियोंमें जा छिपे और रहने लगे। यह अर्द्धबर्बर देश मध्य एशियाके उत्तरका देश अनुमानित होता है। इस देशके राजाकी अध्यक्षतामें श्मश्रुल, धर्मधर्ण आदि म्लेच्छ भारतमें आये थे। इन म्लेच्छोंको मार भगानेमें राम और लक्ष्मणने काफी वीरता दर्शायी थी। जनक इन राजकुमारोंसे मोहित हुए और उन्होंने अपनी राजकुमारियोंका ब्याह उनके साथ करना निश्चित कर लिया। स्वयंवर रचा गया और उसमें भी राम और लक्ष्मणने अपना धनुर्कौशल प्रगट किया। सीताने रामके गलेमें वरमाला डाली। रामचन्द्रके साथ उनका ब्याह हुआ। अन्य राजकुमारी लक्ष्मणको ब्याही गईं। दोनों राजकुमार आनन्द कालक्षेप करने लगे।

रामवनवास।

राम और लक्ष्मण राजा दशरथके बेटे थे। दशरथने वृद्धावस्थाको आया देखकर अपना आत्महित करना विचारा वह संसारसे विरक्त हुये। ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र थे। उन्हें ही राजपद मिलना था। भरतकी माता कैकयीने भी यह बात सुनी। वह राजा दशरथके पास गई और उन्हें मुनि-दीक्षा लेनेसे रोकने लगी; परन्तु दशरथ महाराजके दिलपर वैराग्यका गाढ़ा रंग चढ़ गया था। कैकयीकी बात उनको नहीं रुची। तब कैकयीने अपनी बात कही। एक दफा युद्धमें कैकयीकी वीरतापर प्रसन्न होकर दशरथने उसे एक वचन दिया था। कैकयीने यही वचन पूरा करनेके लिये दशरथसे प्रार्थना की। दशरथ अपने वचनके पाबन्द थे। उन्होंने रानीसे कहा,

'खुशीसे जो चाहो मांगलो।' केकयी प्रसन्न हुई। उसने कहा कि 'भरतको राज्य दीजिये और रामचन्द्रको वनवास।' दशरथ यह सुनकर दंग रह गये। रानीका हठ था और वह स्वयं वचनबद्ध थे। जो कैकयीने माँगा वह उन्हें देना पड़ा। परन्तु इस घटनाने उन्हें ऐसा मर्माहत किया कि वह अधिक समय जीवित न रहे। तत्काल ही घर छोड़कर मुनि होगये। भरत राजा हुये, रामचन्द्र वनवासी बने।

वनवासमें दक्षिण भारतका प्रवास।

वनवासमें रामचन्द्रजीके साथ उनकी पत्नी सीता और उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी थे। वे दोनों रामचन्द्रजीके दुख सुखमें बराबर साथी रहे। भरतको भी रामचन्द्रसे अत्यधिक प्रेम था। वह भ्रातृप्रेमसे प्रेरित होकर उन्हें वापिस लौटा लानेके लिये वनमें गये, परन्तु रामचन्द्रने उनकी बात नहीं मानी। बल्कि वनमें ही अपने हाथसे उनका राज्याभिषेक कर दिया। भरत अयोध्या लौट आये। राम, लक्ष्मण और सीता आगे बढ़े। मालवदेशके राजाकी उन्होंने सहायता की और उसका राज्य उसे दिलवा दिया। आगे चलकर बाल्यखिल्ल नरेशको उन्होंने विंध्याटवीके म्लेच्छोंसे छुड़ाया। वह अपने नलकूवर नगरमें जाकर राज्य करने लगा। म्लेच्छ सरदार रौद्रभूत उसका मन्त्री और सहायक हुआ। इस प्रकार एक राज्यका उद्धार करके राम-लक्ष्मण आगे चले और तापी नदीके पास पहुचे। वहाँ एक यक्षने नारायण-बलभद्रके सम्मानमें एक सुन्दर नगर रचा, जिसका नाम रामपुर रक्खा। वहाँसे चले तो वे विजयपुर पहुंचे। लक्ष्मणके

वियोगमें तपस्वी यहाँकी राजकुमारी वनमाला उन्हें पाकर अति प्रसन्न हुई । लक्ष्मणके समागमसे उसके भाग्य जगे । यहाँसे रघुकुलका अपमान करनेवाले नन्द्यावर्तके राजाको दण्ड देनेके लिये राम और लक्ष्मण गए । वह राजा उनसे परास्त होकर मुनि होगया । राम-लक्ष्मण वंशधर पर्वतके निकट वंशस्थल नगरमें पहुंचे ।

उस पर्वतपर रातको भयानक शब्द होते थे, जिसके कारण नगरनिवासी भयभीत थे। साहसी भाइयोंने उस पर्वतपर रात बिताना निश्चित किया । वे परोपकारकी मूर्ति थे—लोकका कल्याण करना उन्हें अभीष्ट था । रातको वे पर्वतपर रहे—वहाँ साधु युगलकी वंदना की। उन साधुओंपर एक दैत्य उपसर्ग करता था इसी कारण भयानक शब्द होता था । राम और लक्ष्मणने उस दैत्यका उपसर्ग नष्ट किया । उन दोनों मुनिराजोंका उपसर्ग दूर होते ही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । उनका नाम कुलभूषण और देशभूषण था । बम्बईप्रान्तीय कुंथलगिरि पर आज भी इन मुनिराजोंका स्मारक विद्यमान है । रामचन्द्रजीने भी उनके स्मारक स्वरूप वहाँपर कई जिनमन्दिर बनवाये थे।

यहाँसे आगे चलकर रामचन्द्रजी दण्डकारण्यमें पहुंचे । उस समय तक वह मनुष्यगम्य नहीं था, परन्तु रामचन्द्रजीके साहसके सामने कुछ भी अगम्य न था। वह उसमें प्रवेश करके एक कुटिया बनाकर रहने लगे । यहीं उन्होंने दो चारण मुनियोंको आहारदान दिया जिसकी अनुमोदना एक गिद्ध पक्षीने भी की। राम लक्ष्मणके साथ रहकर वह श्रावकाचार पालने लगा। रामने इसका नाम जटायु रक्खा । दण्डकवनमें आगे घुसकर राम और लक्ष्मणने क्रौंचरवा नदी

पार की और वे दण्डकगिरिके पास जाकर ठहरे। वहा उन्होंने नगर बसाकर रहना निश्चित कर लिया था।

इसका अर्थ यह होता है कि वे वहा अपना उपनिवेश स्थापित करके रहना चाहते थे। किन्तु वहा एक अघटित घटना घट गई। लक्ष्मणके हाथसे धोखेमें खरदूषणके पुत्र शम्बुकी मृत्यु होगई। खरदूषणने राम-लक्ष्मणसे युद्ध ठान दिया। रावणका वह बहनोई था। उसने उसके पास भी सहायताके लिये समाचार भेज दिये। राम और लक्ष्मण नर-पुंगव थे। वे इस आपत्तिको देखकर जरा भी भयभीत नहीं हुये। राम युद्धके लिये उद्यत हुये, परन्तु लक्ष्मणने उन्हें जाने नहीं दिया। वह स्वय युद्ध लड़ने गये और कह गये कि यदि मैं सिंहनाद करूं तो मेरी सहायताको आइये। राम और लक्ष्मण वीर पुरुष थे, उनका पुण्य अक्षय था। खरदूषणका शत्रु विराधित उनकी सहायता करनेके लिये स्वयं आ उपस्थित हुआ।

रावण ।

खरदूषणका आशा भरोसा लंकाका राजा रावण था। रावणने तीनखंड पृथ्वीको जीतकर अपना पौरुष प्रगट किया था। वह बड़ा ही क्रूर परन्तु पराक्रमी था। उसने अनेक विद्यायें सिद्ध कीं थीं। वह राक्षस नामक विद्याधरोंके राजवशका अग्रणी था। असुरसगीत नगरके राजा मयकी पुत्री मन्दोदरी रावणकी पटरानी थी। रावणने दिग्विजयमें दक्षिणभारतके देशोंको भी अपने आधीन बनाया था। रावणके सहायक हैहय, टंक, किहिकन्ध, त्रिपुर, मलय, हेम, कोल आदि देशोंके राजा थे। रावण अपनी दिग्विजयमें विंध्याचलपर्वतसे

फैला हुआ नर्मदाके तटपर आया था और वहाँ डेरा डाले थे। यह जिनेन्द्रभक्त था। इस संग्रामसमयमें भी यह जिनपूजा करना नहीं भूलता था। रावणने जिस स्थानपर पड़ाव डाला था वहाँसे कुछ दूरीपर माहिष्मती नगरीका राजा सहस्ररश्मि [illegible] द्वारा जल बाँधकर अपनी रानियों सहित क्रीड़ा कर रहा था। अकस्मात् बंधा हुआ जल टूट गया और नर्मदामें प्रबल बाढ़ आनेसे रावणकी पूजामें भी विघ्न पड़ा। रावणने सहस्ररश्मिको पकड़नेके लिये आज्ञा दी।

रावणके योद्धा चले और वायुयानोंपरसे युद्ध करने लगे जिसे देवोंने अन्याय बताया क्योंकि सहस्ररश्मि भूमिगोचरी था, उसके पास वायुयान नहीं थे।* अतएव रावणके योद्धा पृथ्वीपर आये और सहस्ररश्मिसे युद्ध करने लगे। सहस्ररश्मि ऐसी वीरतासे लड़ा कि रावणकी सेना एक योजन पीछे भाग गई।

यह देखकर रावण स्वयं युद्ध क्षेत्रमें आया। उसके आते ही संग्रामका पासा पलट गया। उसने सहस्ररश्मिको जीवित पकड़ लिया किन्तु मुनि शतबाहुके कहनेसे रावणने उन्हें छोड़ दिया और अपना सहायक बनाना चाहा परन्तु वह मुनि होगये। इस दिग्विजयमें रावण जहाँ जहाँ जाता वहाँ वहाँ जिनमंदिर बनवाता था अथवा उनका जीर्णोद्धार कराता था और हिंसकोंको दण्ड तथा दरिद्रियोंको दान देकर संतुष्ट करता था। पश्चिम भारतके पूरी पर्वत आदि

---

* इससे स्पष्ट है कि रावण भारतवर्षका निवासी नहीं था, उसकी लंका भारतवर्षके बाहर कहींपर थी, यह अनुमानित होता है। विशेषके लिये 'भगवान पार्श्वनाथ' नामक पुस्तक देखिये।

[illegible] उनने [illegible] सूर्पणखा [illegible] [illegible] × [illegible] गया। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] खरदूषणने उसको अपनी सहायताके लिये बुलाया। और वह आया भी। मार्गमें आते हुए रावणने सीताको देखा। वह उसके रूप-सौन्दर्यपर मुग्ध होगया। धोखा देकर वह सीताको हरकर ले गया। राम और लक्ष्मण जब युद्धसे लौटे तो उन्होंने सीताको नहीं पाया। वे उनके वियोगमें आकुल-व्याकुल होगये और उनकी तलाशमें वन वन भटकने लगे।

राम-रावण युद्ध।

वानरद्वीपमें वानरवंशी विद्याधर राजा रहते थे। उनके वंशज वहांसे राज्यच्युत होकर दक्षिण भारतमें आ रहे। किष्किन्धापुर उनकी राजधानी थी। तब यहां सुग्रीव नामका राजा राज्य करता था। रामचन्द्रने उसकी सहायता करके उसे अपना मित्र बनाया। सुग्रीवने सीताका पता लगानेके लिये शपथ ली और वह उस कार्यमें सफल हुआ। राम और लक्ष्मणको पता चल गया कि सीता रावणके यहां लंकामें है। लक्ष्मणने दक्षिण भारतकी कोटिशिलाको घुटनोंतक उठाकर अपने अतुल बलका परिचय विद्याधर राजाओंको दिया, जिससे वे रामका साथ देकर रावणसे लड़नेके लिये तत्पर होगये।

अब हनुमानजीको सीताके समाचार लेनेके लिये भेजा गया। वह दक्षिण भारतके महेन्द्र पर्वतपरसे होकर लंका गये थे। वहां

× कच० १-१-१।

पहुंचकर सीताजीसे मिले और रावण एवं उसके परिजनोंको समझाया; परन्तु रावणने एक न मानी। हनुमानजी लौटकर रामके पास आये और सब समाचार कह सुनाये। इसपर राम और लक्ष्मणने रावणपर आक्रमण किया और भयानक युद्धके उपरान्त लक्ष्मणके हाथसे रावणका वध हुआ। सीता रामको मिलीं। लंकाका राज्य विभीषणको दिया गया।

राम और लव-कुश।

राम लक्ष्मण और सीता वनवासका काल व्यतीत करके अयोध्या लौट आये। राम राजा हुये और सानंद राज्य करने लगे। भरत मुनि होगये। रामने सीताको घरमें वापस रख लिया इस बातको लेकर प्रजाजन उच्छृंखल होने लगे। इस पर रामने सीताको वनवासका दंड दिया। सीता गर्भवती थी वनमें असहाय खड़ी थी कि पुण्डरीकपुरके वज्रजंघ राजाने उसकी सहायता की। वह सीताको अपने घर लिवा लाया और धर्मभगिनीकी तरह उसे रक्खा। यहां सीताके लव और कुश नामक दो प्रतापी पुत्र हुये। युवावस्था प्राप्त करके यह दिग्विजय करनेके लिए निकले।

पोदनपुरके राजाके साथ इनकी मित्रता हुई और ये उसके साथ अनेक देश देशान्तरोंको विजय करनेमें सफल हुए। आंध्र, केरल कलिंग आदि दक्षिण भारतके देशोंको भी इन्होंने जीता था परन्तु अयोध्या तक यह नहीं पहुंचे थे। नारदने राम लक्ष्मणका वृतांत दोनों भाइयोंसे कहा जिसे सुनकर वे क्रोधित हो उनपर सेना लेकर चढ़ गये। पिता पुत्रोंका युद्ध हुआ, किन्तु क्षुल्लक सिद्धार्थने उनमें

परस्पर संधि करादी। लव कुश अयोध्यामें पहुंचे। सीताकी अग्नि परीक्षा हुई जिसमें उनकी सहायता देवोंने की। रामने सीतासे घर चलनेकी प्रार्थना की, परन्तु उन्होंने उसे अस्वीकार किया और पृथ्वीमति आर्यिकाके निकट साध्वी होगई। साध्वी सीताकी वन्दना राम लक्ष्मणने की। इस प्रकार दक्षिण भारतसे राम और लक्ष्मणका सम्पर्क था।*

राजा ऐलेय और उसके वंशज।

भगवान् मुनिसुव्रतनाथजीके समयमें सुव्रतके पुत्र दक्ष नामके राजा हुये थे। यह हरिवंशी क्षत्रिय थे। उनकी रानीका नाम इला था। उनसे राजा दक्षके ऐलेय नामका पुत्र और मनोहरी नामक पुत्री हुई थी। पुत्री अतिशय रूपवती थी। राजा दक्ष स्वयं अपनी पुत्रीपर आसक्त था। उसने धर्ममर्यादाका लोप करके मनोहरीको अपनी पत्नी बना डाला! इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि दक्षके विरोधी स्वय उसके परिजन होगये। रानी इला अपने पुत्र ऐलेयको सरदारों सहित लेकर विदेशको चल दी। अनीतिपूर्ण राज्यमें कौन रहे? दुर्ग देशमें पहुंचकर उन्होंने इलावर्द्धननगर बसाया और वहा ही वे रहे। ऐलेय हरिवंशका तिलकस्वरूप प्रमाणित हुआ। उसने अपने शौर्य और पुरुषार्थसे ताम्रलिप्त नगर बसाया और दक्षिण दिग्विजयके लिये वह नर्मदातट पर आया।

वहा उसने माहिष्मती नगरीका नींवारोपण किया। वहीं उसकी

---

* उपु० पर्व ६७ व प्राजैस्मा० मा० २ पृ० ९०-१९०।

राजधानी रही। यहीं देवोंसे बीतकर ऐलेयने धर्मराज्य किया। वृद्धावस्थामें वह अपने कुणिम नामक पुत्रको राज्य देकर उसके लिये वनमें चला गया। शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा कुणिमने विदर्भ देशमें वरदा नदीके किनारे एक कुंडिनपुर नामका नगर बसाया। कुणिमके पश्चात् उसका पुत्र पुलोम राजा हुआ, जिसने पौलोमपुर नामका नगर बसाया। इनके पौलोम और चरम नामक दो पुत्र थे। पुलोमके मुनि होनेपर वे ही राजा हुये। उन्होंने कई राजाओंको जीता था। दोनोंने मिलकर रेवानदीके किनारे इन्द्रपुर बसाया और चरमने जयन्ती और वनवास नामक दो नगर अलग बसाये।

उपर्युक्तमें यह दोनों नगर दक्षिणभारतके इतिहासमें खूब ही प्रसिद्ध हुये थे। राजा चरमका पुत्र संजय और पौलोमका महीदत्त हुआ। इनके उपरान्त वे ही राज्याधिकारी हुये। महीदत्तने कल्पपुर बसाया। अरिष्टनेमी और मत्स्य ये दो उनके पुत्र थे। राजा मत्स्यने भद्रपुर और हस्तिनापुरको जीत लिया और वह हस्तिनापुर आकर राज्य करने लगा था। मत्स्यके पश्चात् अयोधन नामका राजा हुआ जिसकी सन्तान आकर विदेहदेशमें राज्य करने लगी थी। इन्हीं मिथिलानाथकी सन्ततिमें एक अभिचन्द्र नामका पराक्रमी राजा हुआ, जिसने विन्ध्याचलपर्वतके पृष्ठभागपर चेदिराष्ट्रकी स्थापना की एवं शुक्तिमती नदीके ऊपर शुक्तिमती नामकी नगरी बसाई।

राजा अभिचन्द्रका विवाह उग्रवंशसे उत्पन्न रानी वसुमतीसे हुआ था। इन्हींका पुत्र वसु था, जिसने विद्वत्सम्प्रदायके वश हो 'अज' शब्दका अर्थ 'शालि' न बताकर बकरा बताया और यज्ञोंमें -

हिंसाको स्थान दिया था। इस प्रकार दक्षिणापथके एक प्राचीन नगरसे वेदोंमें हिंसक विधानोंको स्थान मिला था जैसे कि पहले भी लिखा जाचुका है। राजा वसुके पुत्र सुवसु और बृहद्ध्वज वहां न रह सके। सुवसु भागकर नागपुरमें जारहा और बृहद्ध्वज मथुरामें आ बसा। जिसके वंशमें प्रतापी राजा यदु हुआ था।*

कामदेव नागकुमार।

कनकपुरके पास राजा जयन्धर थे। उनकी एक रानी विशालनेत्रा थी, जिससे उनके एक पुत्र श्रीधर नामका था। एक रोज जयन्धर राजासे किसी वणिकने आकर कहा कि सौराष्ट्रदेशस्थ गिरिनगरके राजाकी पृथ्वीदेवी नामकी कन्या अति सुन्दरी है, जिसे वह राजा उन्हें व्याहनेके लिये उत्सुक है। जयन्धर यह समाचार सुनकर प्रसन्न हुआ और उनका विवाह पृथ्वीदेवीके साथ होगया। कालान्तरमें रानी पृथ्वीदेवीके एक महा भाग्यशाली और परम रूपवान पुत्र हुआ, जिसका नाम उन्होंने प्रजाबंधु रक्खा। किन्तु उस नवजात शिशुके साथ एक अद्भुत घटना घटित हुई। वह किसी तरह राजधायके हाथोंसे निकलकर नागलोगोंकी पल्लीमें जा पहुंचा।

नाग-सरदारने उस शिशुको बड़े प्यारसे पाला, पोषा और उसे शस्त्रास्त्रमें निष्णात बना दिया। भारतीय साहित्यमें इन नागलोगोंका वर्णन अलंकृत रूपमें है। उसमें इनको वापियों और कुओंमें

---

* हरि० सर्ग १७ संभवत निजाम राज्यका अलादुर्ग नामक स्थान इलावर्द्धन नगर है। कहते हैं वहां हजारों जिनमूर्तियां जमादोस्त हैं।

सर्प लिखा है तथा इन्हें सर्प अनुमान किया है। वास्तवमें इसका मर्म यही है कि ये मनुष्य थे। विद्वानोंका कथन है कि भारतवर्षके आदि निवासी असुर जातिसे नागलोगोंका सम्पर्क था। इनका ध्वजचिह्न सर्प था और ये ब्राह्मणोंको मान्यता नहीं देते थे। एक समय ये सारे भारत ही नहीं बल्कि मध्य एशिया तक फैले हुए थे।

धर्मका ऊपर उनका अधिक आग्रह था। इनमें जैनधर्मका प्रचार एक अति प्राचीनकालसे था। तामिल देशके शास्त्रकारोंने दक्षिण भारतके प्राचीन निवासियोंमें नाग लोगोंकी गणना की है। ऐतिहासिक कालमें नागराजाओंकी कन्याओंके साथ पल्लवोंके राजाओंके विवाह सम्बन्ध हुए थे। तामिल देशका एक भाग नाग लोगोंकी अपेक्षा नागनाडु कहलाता था। जैन पद्मपुराणमें नागकुमार विद्याधरोंका भी उल्लेख है।

राजा जयंधरके पुत्र इन्हीं नाग लोगोंके एक सरदारके यहां शिक्षित और दीक्षित हुए थे। सम्भव है इसी कारण उनका अपर नाम नागकुमार था। इनका सम्बन्ध अवश्य नागोंसे रहा था। विष्णुपुराण में जो नागराजाओंमें भी एक नागकुमार नामक थे। परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि वह हमारे नागकुमारसे अभिन्न थे। नाग लोग अपने रूप सौंदर्यके लिये प्रसिद्ध थे। सुन्दर कन्याको नाग कन्या कहना लोकप्रचलित रहा है। नागकुमार भी अपने अलौकिक रूपके कारण स्वयं कामदेव कहलाते हैं।

दक्षिण भारतकी अन्य राजकन्याओंसे उनका विवाह हुआ प्रगट है, परन्तु पल्लव देशकी राजकन्याओंको उन्होंने नहीं व्याहा था । शायद इसका कारण यही हो कि स्वयं नागकन्यायें पल्लवोंको व्याही गई थीं। यह सब बातें कुछ ऐसी हैं जो नाग लोगोंसे नागकुमारकी घनिष्टताको ध्वनित करती हैं । होसक्ता है कि वे नाग वंशज ही हों ।*

जो हो, युवा होनेपर नागकुमार अपने माता पिताके पास कनकपुर लौट आये और वहां सानंद रहने लगे । किन्तु उनके सौतेले भाई श्रीधरसे उनकी नहीं बनी । भाइयोंकी इस अनबनको देखकर राजा जयधरने थोड़े समयके लिये नागकुमारको दूर हटा दिया । ज्येष्ठ पुत्र श्रीधर था और उसीका अधिकार राज्यपर था । नागकुमार मथुरा जापहुंचा । वहांके राजकुमारों—व्याल और महाव्यालसे उसकी मित्रता होगई । उनके साथ नागकुमार दिग्विजयको गया । और बहुतसे देशोंको जीता एवं राजकन्याओंको व्याहा ।

महाव्यालके साथ नागकुमार दक्षिण भारतके किष्किन्धमलय देशस्थ मेघपुरके राजा मेघवाहनके अतिथि हुए । राजा मेघवाहनकी पुत्रीको मृदंगवादनमें परास्त करके नागकुमारने उसे व्याहा । फिर मेघपुरसे नागकुमार तोयावलीद्वीपको गये । वहांसे लौटकर वह पाड्य देश आये थे। पाड्य नरेशने उनकी खूब आवभगत की थी ।

---

* नाग लोगोंके विषयमें जाननेके लिये हमारी 'भगवान पार्श्वनाथ' पुस्तक तथा 'णायकुमार चरिउ' (कारंजा)की भूमिका देखिये।

उनसे विदा होकर वह अपने देश पहुँचे। ऐसे ही घूमते हुये आखिर राजा जयन्धरने उन्हें बुला भेजा और उनका राज्याभिषेक कर दिया।

नागकुमार राज्याधिराज हुये और नीतिपूर्वक उन्होंने काल-विशेष तक राज्यशासन किया। वृद्धावस्थाके निकट पहुंचने पर उन्होंने राज्यभार अपने पुत्र देवकुमारको सौंपा और स्वयं दिगम्बर मुनि हो तप तपने लगे। व्याल, महाव्याल, अच्छेद और अभेद नामक राजकुमारोंने भी उनके साथ मुनिव्रत धारण किया था। तपश्चरण द्वारा कर्मोंका नाश करके ये पांचों मुनिवर कनकपद नामक पर्वतसे मोक्षधाम सिधारे थे।

संक्षिप्त जैन इतिहास।
(भाग १ खण्ड १)

ऐतिहासिक काल।

(प्राचीन खण्ड)

जैन भारतका इतिहास।

दक्षिण भारतका ऐतिहासिक-काल।

(प्राचीन खण्ड)

भारतके इतिहासका प्रारम्भ।

भारतवर्षके इतिहासका प्रारम्भ कबसे माना जाय ? यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसका ठीक उत्तर आजतक नहीं दिया जासका है। विद्वानोंका इस विषयपर भिन्न मत है। भारतीय विद्वान आर्य सभ्यताकी जन्मस्थली भारतभूमि मानते हैं और उसके इतिहासका प्रारम्भ एक कल्पनातीत समयसे करते हैं। जैन शास्त्र भी इसी मतका प्रतिपादन करते हैं, किन्तु उनके कथनमें यह विशेषता है कि वे भारतभूमिका आदि धर्म जैनधर्म और प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव द्वारा संस्थापित सभ्यताको आदि सभ्यता प्रगट करते हैं। जैन शास्त्रोंके इस कथनका समर्थन आधुनिक ऐतिहासिक स्रोतसे भी होता है। प्रो० हेल्मुथ फॉन ग्लासनप्प सदृश यूरोपीय विद्वान् जैनधर्मको ही भारतका सर्व प्राचीन धर्म घोषित करते हैं।[१] उधर भारतीय पुरातत्त्वसे यह स्पष्ट है कि वैदिक (ब्राह्मण) आर्योंके अतिरिक्त और उनसे पहले भारतवर्षमें एक सभ्य और सुसंस्कृत जातिके लोग निवास करते थे। वे लोग असुर द्राविड़ नाग आदि नामोंसे विख्यात थे और उनमें जैनधर्मका प्रवेश एक अत्यंत प्राचीनकालमें ही होगया था। क्योंकि प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव सुर, असुर नाग आदि द्वारा

१-Der Jainismus

पूजित प्राचीन जैन शास्त्रोंमें कहे गये हैं।[1] और यह हम पहले ही देख चुके हैं कि भारतके आदि निवासी असुर ही वैदिक आर्योंसे प्राचीन मनुष्य हैं जो भारतवर्षमें रहते थे। सिंधु उपत्ययकाकी सभ्यता उन्हीं लोगोंकी सभ्यता थी और वहांकी धर्मउपासना जैन धर्मसे मिलती जुलती थी। किन्तु इस मान्यताके विरुद्ध भी एक विद्वत्समुदाय है, जिसमें अधिकांश भाग यूरोपीय विद्वानोंका है। वे लोग भारतको आर्योंका जन्मस्थान नहीं मानते। उनका कहना है कि वैदिक आर्य भारतमें मध्य ऐशियासे आये और उन्होंने यहांके असुर दास आदि मूल निवासियोंको परास्त करके अपना अधिकार और संस्कार प्रचलित किया।

इस घटनाको वे लोग आजसे लगभग पांच छै हजार वर्ष पहले घटित हुआ प्रगट करते हैं और इसीसे भारतीय इतिहासका प्रारम्भ करते हैं।[2] किंतु सिन्धु उपत्ययकाका पुरातत्व भारतीय इतिहासका आरम्भ उक्त घटनासे दो-चार हजार वर्ष पहले प्रमा

१–'सुर असुर गरुड महिया, चेइयरुक्खा जिणवराण ॥६–१८॥'
—समवायाङ्ग सूत्र।

"एस सुरासुरमणुसिंद, वंदिद धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं, तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥"
—प्रवचनसार।

कर्मान्तकृन्महावीरः सिद्धार्थकुलसम्भवः।
एते सुरासुरौघेण पूजिता विमलत्विषः ॥ ९ ॥
—देवशास्त्रगुरुपूजा।

२–मोहिइ० पृ० ४–२९

भिन्न करता है। हां, यह अवश्य है कि उस समयका ठीक हाल हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। उसको ढूंढ निकालनेके लिये समय और शक्ति अपेक्षित है। किंतु यह सत्य है कि भारतीय इतिहासका जो आदिकाल योरुपीय विद्वान मानते हैं वह ठीक नहीं है।

दक्षिण भारतका इतिहास।

यह तो हुई समूचे भारतके इतिहासकी बात परन्तु हमारा सम्बन्ध यहांपर दक्षिण भारतके इतिहाससे है। हमें जानना है कि दक्षिण भारतका इतिहास कबसे आरम्भ होता है और उसमें जैनधर्मका प्रवेश कबसे हुआ ? यह तो प्रगट ही है कि दक्षिण प्रायः समूचे भारतसे पृथक नहीं था और इस दृष्टिसे जो बात उत्तर भारतके इतिहाससे सम्बद्ध है वही बात दक्षिण भारतके इतिहासमें लागू होना चाहिये। साधारणतः यह कथन ठीक है और विद्वान् यह प्रगट भी करते हैं कि एक समय सारे भारतमें ये ही द्राविड़ लोग मिलते थे जो उपरांत दक्षिण भारतमें ही रह गए।[1] किंतु दक्षिण भारतकी अपनी विशेषता भी है। वह उत्तर भारतसे अपना पृथक् अस्तित्व भी रखता है और वहां ही आज प्राचीन भारतके दर्शन होते हैं।[2] मैसूरके चन्द्रवल्ली

---

[1] १–ऑाइ पृष्ठ २१– Step by step the Dravidians receded from Northern India, though they never left it altogether."

[2] २–"India, south of the Vindhyas—the Peninsular India—still continues to be India proper Here the bulk of the people continue distinctly

नामक स्थानसे मोहन जोदडो जैसी और उतनी प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई । बस, जब हम उसके स्वतंत्ररूपमें दर्शन करते हैं और उसके इतिहासका प्रारम्भिक काल टटोलते हैं तो वहा भी धुंधला प्रकाश ही मिलता है । विद्वानोंका तो कथन है कि दक्षिण भारतके इतिहासका यथार्थ वर्णन दुर्लभ है । सर विन्सेन्ट स्मिथने लिखा था कि 'दुरवर्ती दक्षिण भारतके प्राचीन राज्य यद्यपि धनजन सम्पन्न और द्राविड़ जातिके लोगोंसे परिपूर्ण थे, परन्तु वे इतने अप्रगट थे कि शेष दुनियाको—स्वय उत्तर भारतके लोगोंको उनके विषयमें कुछ भी ज्ञान न था । भारतीय लेखकोंने उनका इतिहास भी सुरक्षित नहीं रक्खा । परिणामतः आज वहाका ईस्वी आठवीं शताब्दिसे पहलेका इतिहास उपलब्ध नहीं है।'[१] एल्फिन्सटन सा०

---

to retain their pre-Aryan features, their pre-Aryan languages, their pre-Aryan institutions" —Pillai's Tamil Antiquities जैनशास्त्रमें भी कहा गया था कि इस कालमें दक्षिणभारतमें ही जैनधर्म जीवित रहेगा । क्या यह उसके प्राचीन रूपका द्योतक है ?

[१] "The ancient kingdoms of the far south, although rich and populous, inhabited by Dravidian nations .were ordinarily so secluded from the rest of the civilised world, including northern India, that their affairs remained hidden from the eyes of other nations and native annalists being lacking, their history previous to the year 800 of the christian era, has almost wholly perished......" —EHI. p 7.

ने स्पष्ट लिखा था कि प्राचीनकालमें दक्षिण भारतकी राजनैतिक घटनाओंका सम्बन्धित विवरण लिखा ही नहीं जासकेगा। आज भी यह कथन एक हदतक ठीक है।

परन्तु इस दरमियानमें जो ऐतिहासिक खोज और अन्वेषण हुए हैं उनके आधारसे दक्षिण भारतका एक क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण ईसी प्रारम्भिक शताब्दियोंसे लिखा जा सकता है। किंतु यह समय दक्षिण भारतके इतिहासका आरम्भ-काल नहीं कहा जा सकता। भले ही ईसी पूर्व शताब्दियोंके दक्षिण भारतका क्रमबद्ध विवरण न मिले परन्तु उसकी सभ्यता और संस्कृतिके अस्तित्व और अभ्युत्थानका पता बहुत समय पहले तक चलता है। सिंधु उपत्यकाका पुरातत्व और वहांकी सभ्यता द्राविड़ सभ्यतासे मिलती जुलती थी।[1] चन्हुदड़ोका पुरातत्व इसका साक्षी है। सुमेर जातीय लोगोंसे भी द्राविड़ोंका साहस्य था। और यह सुमेर लोग सिंधु-सुवर्ण अथवा सिंधु सौवीर देशके मूल अधिवासी थे। सु-राष्ट्र या सौराष्ट्रसे ही जाकर वे मेसोपोटेमिया आदि देशोंमें बस गये थे। पुरातत्वके शोधी पणिक इस सु-वर्ण जातिके ही वंशज अनुमान किये जाते हैं। सिंधु सुमेर और द्राविड़-इन तीनों जातियोंकी सभ्यता और संस्कृतिका साम्य उन्हें सम-सामायिक सिद्ध करता है। इसलिये द्राविड़ देश अर्थात् दक्षिण भारतका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि सुमेर जातिका है; बल्कि संभव तो यह

१-Ibid. २-मोद भा १ पृ १९। ३-दिमा मा० १८ [illegible]

है कि वह उनसे भी प्राचीन हो क्योंकि सुमेरु लोगोंने भारतसे जाकर मेसोपाटेमियामें उपनिवेशका नींव डाली थी।

महाराष्ट्र, निजाम हैदराबाद और मद्रास प्रान्तमें ऐसे प्राचीन स्थान मिलते हैं जो प्राग् ऐतिहासिक कालके अनुमान किये गये हैं और वहांपर एक अत्यंत प्राचीन समयके शिलालेख भी उपलब्ध हुये हैं। यह इस बातके सबूत हैं कि दक्षिण भारतका इतिहास ईस्वी प्रारम्भिक शताब्दियोंसे बहुत पहले आरम्भ होता है। उधर प्राचीन साहित्य भी इसी बातका समर्थक है। तामिल साहित्यके प्राचीन काव्य 'मणिमेखलै' और 'सीलप्पद्दिकारम्' में एवं प्राचीन व्याकरण शास्त्र 'थोलप्पकियम्' में दक्षिण भारतके खूब ही उन्नत और समृद्धिशाली रूपमें दर्शन होते हैं और यह समय ईसासे बहुत पहलेका था। अत दक्षिण भारतके इतिहासको उत्तर भारत जितना प्राचीन मानना ही ठीक है।

दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रवेश।

अब जरा यह देखिये कि दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रवेश कब हुआ? इस विषयमें जैनियोंका जो मत है वह पहले ही लिखा जाचुका है। उनका कथन है कि भगवान ऋषभदेवके समयमें ही जैनधर्म दक्षिण भारतमें पहुंच गया था। उधर हिन्दू पुराणोंकी साक्षीके आधारसे हम यह देख ही चुके है कि देवासुर संग्रामके समय अर्थात् उस प्राचीन कालमें जब भारतके मूल निवासियोंमें ब्राह्मण आर्य अपनी वैदिक सभ्यताका प्रचार कर रहे थे, जैनधर्मका केन्द्र दक्षिण पथके नर्मदा

तटपर मौजूद था। जैन मान्यता भी इसके अनुकूल है। उसमें नर्मदा तटको एक तीर्थ माना है और वहांसे अनेक जैन महापुरुषोंको मुक्त हुआ प्रगट किया है।[1] वैसे भी हिंदू पुराणोंके वर्णनसे नर्मदा तटकी सभ्यता अत्यन्त प्राचीन प्रमाणित होती है यद्यपि अभी तक वहांकी जो खुदाई हुई है उसमें मौर्यकालसे प्राचीन कोई वस्तु नहीं मिली है।[2] होसकता है कि नर्मदा तटका वह केन्द्रीय स्थान अभी अप्रगट ही है कि जहां उसकी प्राचीनताकी द्योतक अपूर्व सामग्री भूगर्भमें सुरक्षित हो।

सारांश यह कि जैन ही नहीं बल्कि प्राचीन भारतीय मान्यतानुसार जैनधर्मका प्रवेश दक्षिणभारतमें एक अत्यन्त प्राचीनकालसे प्रमाणित होता है। परन्तु आधुनिक विद्वान मौर्यकालमें ही जैन धर्मका प्रवेश दक्षिणभारतमें हुआ प्रगट करते हैं।[3] वे कहते हैं कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहुने जब उत्तरभारतमें बारहवर्षका अकाल होता जाना तो वे संघ सहित दक्षिणभारतको चले गये और उन्होंने ही वहांकी जनताको जैनधर्ममें सर्व प्रथम दीक्षित किया। इसके विपरीत कोई कोई विद्वान् जैनधर्मका प्रवेश दक्षिणभारतमें इससे किंचित् पहले प्रगट करते हैं। उनका कहना है कि जब लंकामें जैनधर्म इस घटनासे पहले अर्थात् ईस्वीपूर्व चौथी शताब्दिमें ही पहुंचा हुआ मिलता है तो कोई वजह नहीं कि उन

१–[illegible] [illegible] [illegible] विभाग पृ ७१।

२–'सरस्वती' भाग १८ अंक १ पृष्ठ १८–१९।

३–[illegible] पृ १९४, [illegible] पृ १९६ आदि, पृ १८।

उसका अस्तित्व दक्षिणभारतमें न माना जावे।[1] आन्ध्रदेशमें जैन धर्म प्राङ् मौर्यकालसे प्रचलित हुआ प्रगट किया ही जाता है।[2] किन्तु हमारे विचारसे जैनधर्मका प्रवेश इस कालसे भी बहुत पहले दक्षिणभारतमें होचुका था।

उपरोक्त साक्षीके अतिरिक्त प्राचीन जैन और तामिल साहित्य तथा पुरातत्व इस विषयमें हमारा समर्थन करते है। पहले ही जैन साहित्यको लीजिये। उसमें बराबर श्री ऋषभदेवके समयसे दक्षिण भारतका उल्लेख मिलता है, जैसे कि पौराणिक कालके वर्णनमें लिखा जाचुका है। और आगेके पृष्ठोंमें और[3] भी लिखा जायगा। सचमुच जैनोंको लक्ष्य करके जैन ग्रथोंमें दक्षिणभारतके पल्लवदेश, दक्षिणम-

---

[1] "If this information (of the 'Mahavamsa') could be relied upon, it would mean that Jainism was introduced in the island of Ceylon, so early as the fifth century B C It is impossible to conceive that a purely North Indian religion could have gone to the island of Ceylon without leaving its mark in the extreme south of India, unless like Buddhism it went by sea from the north."—Studies in South Indian Jainism,
—Pt. I p 33

[2] Jainism in the Andhra desh, at least, was probably pre-Mauryan .. ,"
—Ibid., Pt. II. p 2

[3] उपु० पृ० ६०९।

पुरा[1] पोलासपुर[2] भद्दिले महामोहनमें इत्यादि स्थानोंका प्राचीन वर्णन मिलता है। दक्षिणमथुराको स्वयं पाण्डवोंने बसाया था। पल्लवदेशमें भगवान अरिष्टनेमिका विहार हुआ था जैसे कि हम आगे देखेंगे। ये ऐसे उल्लेख हैं जो दक्षिणभारतमें जैनधर्मके अस्तित्वको भद्रबाहु स्वामीसे बहुत पहलेका प्रमाणित करते हैं।

यही बात तामिल साहित्यसे सिद्ध होती है। तामिल साहित्यमें मुख्य ग्रन्थ 'संघम-काल” के हैं जिसकी तिथिके विषयमें भिन्न मत हैं। भारतीय पंडित उस कालको ईस्वीसन्‌से हजारों वर्षों पहले लेजाते हैं किन्तु आधुनिक विद्वान् उसे ईस्वीसन्‌से चार पांचसौ वर्ष पहले ईसी प्रथम शताब्दितक अनुमान करते हैं।[5] यह जो भी हो पर इतना तो स्पष्ट ही है कि 'संघमकाल' के ग्रंथ प्राचीन और प्रामाणिक हैं। इनमें 'तोल्कापियम्' नामक ग्रन्थ सर्व प्राचीन है। इसका रचनाकाल ईसीपूर्व चौथी शताब्दि बताया जाता है और यह भी कहा जाता है कि यह एक जैन रचना है।[6] इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जैनधर्मका प्रचार तामिलदेशमें मौर्यकालसे पहले होचुका था। तामिलके प्रसिद्ध काव्य 'मणिमेकलै' और सीलप्पदिकारम् हैं और यह क्रमश: एक बौद्ध और जैन लेखककी रचनायें हैं। इनमें जैनधर्मका खास वर्णन मिलता है। बौद्धकाव्य 'मणिमेकलै' से

१-ज्ञातृधर्म कथांग सूत्र पृ १८ व ६९ पृ ४८०।
२-उपासकदशांग सूत्र पृष्ठ २२। ३-अन्तगडदशांग सूत्र पृ ११।
४-भगवती पृष्ठ १९५८। ५-बुस (Budhistic Studies) पृष्ठ ६०। ६-बुस्ट पृ ६०४ जो जैनधर्म था १ पृ ८९।

स्पष्ट है कि उसके समयमें जैनधर्म तामिल देशमें गहरी जड़ पकड़े हुये था। यहा जैनियोंके विहारों और मठोंका वर्णन पदपदपर मिलता है। जनतामें जैन मान्यताओंका घर कर जाना उसकी बहु प्राचीनताकी दलील है।[1] 'सीळप्पदिकारम्' भी इसी मतका पोषक है।[2]

उपलब्ध पुरातत्व भी हमारे इस मतकी पुष्टि करता है कि जैनधर्म दक्षिण भारतमें एक अत्यत प्राचीनकालमें पहुच गया था। जैन ग्रन्थ 'करकंडु चरित' में जिन तेरापुर धाराशिव आदि स्थानोंकी जैन गुफाओं और मूर्तियोंका वर्णन है, वे आज भी अपने प्राचीन रूपमें मिलती हैं। उनकी स्थापनाका समय भ० पार्श्वनाथ (ई० पू० ८वीं शताब्दि) का निकटवर्ती है।[3] इसलिये उन गुफाओं और मूर्तियोंका अस्तित्व दक्षिण भारतमें जैनधर्मका अस्तित्व तत्कालीन सिद्ध करता है।

इसके अतिरिक्त मदुरा और रामनंद जिलोंमें ब्राह्मी लिपिके प्राचीन शिलालेख मिलते हैं। इनका समय ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दि अनुमान किया गया है। इनके पास ही जैन मंदिरोंके अवशेष और तीर्थंकरोंकी खंडित मूर्तिया मिली है। इसी लिये एवं इनमें अंकित शब्दोंके आधारसे विद्वानोंने इन्हें जैनोंका प्रगट किया है।[4] इसके माने यह होते हैं कि उस समयमें जैनधर्म वहापर अच्छी तरह प्रचलित होगया था। अलगरमलै (मदुरा) एक प्राचीन जैन

---

[1] बुस्ट०, पृ० ३ व ६८१। [2] साइजै०, पृ० ९३–९४। [3] अभरिइ०, भा० १६ प्र० स० १–२ और करकण्डु चरिय (कारंजा) भूमिका। [4] साइजै०, भा० १ पृ० ३३–३४।

स्थान था और यहां पर ई० पूर्व तीसरी शताब्दिके लेख पाये गये हैं।[1] इस उल्लेखसे भी दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी प्राचीनताका समर्थन होता है। निस्सन्देह यदि दक्षिण भारतमें जैन धर्मका अस्तित्व एक अति प्राचीनकालसे न होता तो मौर्यकालमें श्रुतकेवली भद्रबाहु जैन संघको लेकर वहां जानेकी हिम्मत न करते।

हालमें प्रो० प्राणनाथने काठियावाड़में मिले हुये एक प्राचीन ताम्रपत्रको पढ़ा है। इसकी लिपि रोमन, सिंधु, सुमेर आदि लिपियोंका मिश्रण है। प्रो० सा० इसे बेबीलोनके राजा नेबुचद्नेजर प्रथम (ई० पूर्व ११४०) अथवा द्वितीय (ई० पूर्व ६)का बताते हैं।[2] उस ताम्रपत्रका अर्थ उन्होंने निम्नप्रकार प्रगट किया है —

"रेवानगरके राज्यका स्वामी, सु जातिका देव नेबुश

---

[1] १—जैसिभा० भा० १७ पृष्ठ ११३-११४।

[2] २—"Dr. Pran Nath, Professor at the Hindu University Benares has been able to decipher the copper plate grant of Emperor Nebuchadnezzar I (circa 1140 B. C.) or II (circa 600 B. C.) of Babylon found recently in Kathiawar. The inscription is of great historical value and it shows a peculiar mixture of the characters used by the Romans, The Sindha valley people and the Semites. It may go a long way in proving the antiquity of the Jain religion, since the name of Nemi appears in the inscription."

—The Times of India, 19th March 1935 p. 9

दनेजर आया है। वह यदुराज (कृष्ण) के स्थान (द्वारिका) आया है। उसने मंदिर बनवाया सूर्य न। नेमि कि जो स्वर्ग समान रैवतपर्वतके देव हैं (उनको) ने अर्पण किया।"

"जैन" भाग ३५ अंक १ पृष्ठ २।

इसमें गिरनार (रैवत) 'पर्वत देवतामें नेमि' का उल्लेख हुआ है और यह प्रगट ही है कि 'जैन तीर्थंकर नेमिनाथ गिरनार (रैवत, पर्वतसे निर्वाण सिधारे थे। वह रैवत पर्वतके देव हैं। साथ ही अन्यत्र यह अनुमान किया गया है कि गुजरातके जैनी वणिक 'सु' जातिके हैं।[४] अतः इस ताम्रपत्रसे जैनधर्मकी प्राचीनता सिद्ध होती है। परन्तु इसमें खास बात हमारे विषयकी यह है कि नेबुशदनेज़र को रेवा नगरका स्वामी कहा है। इससे प्रतीत होता है कि उसका राज्य भारतमें भी था, क्योंकि रेवा नगर दक्षिण भारतमें अवस्थित होसकता है। प्राचीन प्राकृत 'निर्वाणकांड' में भारतकी दक्षिण दिशामें स्थित रेवानदी सिद्धवरकूटका उल्लेख है। होसक्ता है कि उक्त रेवा नगर वहीं रेवानदीके निकट हो। इस दशामें यह ताम्रपत्र दक्षिण पथमें जैनधर्मके अस्तित्वको अति प्राचीनकालमें प्रगट करता है।

ऐतिहासिक काल। उपर्युल्लिखित वार्ताको ध्यानमें रखते हुये यह मानना अनुचित नहीं है कि दक्षिण भारतमें जैनधर्मका इतिहास एक अत्यंत प्राचीनकालसे प्रारम्भ होता है। उसके पौराणिककालका वर्णन पूर्व पृष्ठोंमें लिखा जाचुका है। अब ऐतिहासिक

---

[४] विमा० भा० १८ अंक ९ पृष्ठ ६३१।

कालके वर्णनमें उसका प्राचीन इतिहास मिलना कठिन है। इसे हम भगवान् अरिष्टनेमिके वर्णनसे आरम्भ करेंगे और भ० महावीरके उपरांत उसके दो भाग कर देंगे, क्योंकि सुदूर दक्षिण भारतकी ऐतिहासिक घटनायें विन्ध्याचलके दक्षिणस्थ निकटवर्ती भारतसे भिन्न रही हैं। पहले 'दक्षिणापथ' का ऐतिहासिक वर्णन निम्नलिखित छ कालोंमें विभक्त होता है—

(१) आन्ध्रकाल—ईस्वी पांचवीं शताब्दि तक।
(२) प्रारम्भिक चालुक्य—(ईस्वी ५ वींसे ७वीं शताब्दि) एवं राष्ट्रकूट काल (७वींसे १२वीं शताब्दि तक)
(३) अन्तिम चालुक्य काल—(१ वींसे १४वीं श०)
(४) विजयनगर साम्राज्य काल।
(५) मुसलमान मराठा काल।
(६) और ब्रिटिश राज्य।

इसीके अनुसार सुदूरवर्ती दक्षिण भारतके निम्नलिखित छै भाग होते हैं—

(१) प्रारम्भिक काल—ईस्वी पांचवीं शताब्दि तक।
(२) पल्लव काल—ईस्वी ५ वींसे ९ वीं शताब्दि तक।
(३) चोल साम्राज्य काल—ई० ९वींसे १४वीं श० तक।
(४) विजयनगर साम्राज्य काल—ई० १४वींसे १६ वीं शताब्दि तक।
(५) मुसलमान-मराठा काल—ई० १६वींसे १८वीं शताब्दि तक।

(६) **ब्रिटिश राज्य**–(उपरांत)

प्रस्तुत 'प्राचीन खण्ड' में हम दोनों भागोंके पहले कालों तकका इतिहास लिखनेका प्रयत्न निम्न पृष्ठोंमें करेंगे। अवशेष कालोंका वर्णन आगेके खण्डोंमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जायगा। आशा है, जैन साहित्य संसारके लिये हमारा यह उद्योग उपयोगी सिद्ध होगा।

* * *

आरंभिक-इतिहास।

भगवान् अरिष्टनेमि, कृष्ण और पाण्डव।

यादव वंश।

उत्तर भारतके क्षत्रिय वंशोंमें हरिवंश मुख्य था। इस वंशके राजाओंका राज्य मथुरामें था, यद्यपि इनके आदि पुरुष मगधकी ओर राज्य करते थे। हरिक्षेत्रका आर्य नामक एक विद्याधर अपनी विद्याधरीके साथ आकाशमार्ग द्वारा चम्पानगरमें पहुंचा था। उस समय चम्पानगर अपने राजाको खोनेके कारण अनाथ हो रहा था। विद्याधर आर्य चम्पाका राजा बन बैठा। उसका पुत्र हरि हुआ, जो बड़ा पराक्रमी था। उसने अपने राज्यका खूब विस्तार किया। उसीके नामकी अपेक्षा उसका वंश 'हरि' नामसे प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि यह राजालोग विदेशी विद्याधर थे, परन्तु फिर भी उनको शास्त्रकारोंने क्षत्रिय संभवतः इसलिये लिखा है कि विद्याधरोंके आदि राजा नमि–विनमि भारतसे गये हुये क्षत्रिय पुत्र थे।

धीरे-धीरे इस वंशके राजाओंने अपना अधिकार मगध पर जमा लिया और यहाँ इस वंशमें राजा सुमित्रके सुपुत्र तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ जन्मे थे। मुनिसुव्रतनाथ स्वपुत्र सुव्रतको राज्य देकर धर्मचक्रवर्ती हुये थे। सुव्रतके उपरांत इस वंशमें अनेक राजा हुये और वे नाना देशोंमें फैल गये। इनमें राजा वसुका पुत्र बृहद्ध्वज मथुरामें आकर राज्याधिकारी हुआ और उसकी सन्तान वहां आनंद राज्य करती रही। तीर्थंकर नमिके तीर्थमें मथुराके हरिवंशी राजाओंमें यदु नामका एक तेजस्वी राजा हुआ।

यह राजा इतना प्रतापशाली था कि आगे हरिवंश इसीके नामकी अपेक्षा यादव वंश' के नामसे प्रसिद्ध होगया। राजा यदुके दो पोते शूर और सुवीर उसीकी तरह पराक्रमी हुये। सुवीर मथुराका राजा था और शूरने कुशद्यदेशमें शौरीपुर बसाकर वहां अपना राज्य स्थापित किया। अंधकवृष्णि आदि इनके अनेक पुत्र थे। सुवीरके पुत्र भोजकवृष्णि आदि थे।

सुवीरने मथुराका राज्य उनको दिया और स्वयं सिंधुदेशमें सौवीरपुर बसाकर वहांका राजा हुआ। अंधकवृष्णिके दश पुत्र थे अर्थात् समुद्रविजय अक्षोभ्य स्तिमित, सागर हिमवान, अचल धरण, पूरण अभिचन्द्र और वासुदेव। इनकी दो बहिनें कुन्ती और मद्री थीं, जो पाण्डु और दमघोषको ब्याही गई थीं।

कृष्ण वासुदेव और देवकीके पुत्र थे और यही उस समय यादवोंमें प्रमुख राजा थे। पाण्डुराज हस्तिनापुरमें राज्य करते थे और उनकी सन्तान पाण्डव नामसे प्रसिद्ध थी। कृष्णके भाई बलभद्र थे।

तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि।

शौर्यपुरमें राजा समुद्रविजय रहते थे। उनकी रानीका नाम शिवादेवी था। उन्होंने कार्तिक कृष्ण द्वादशीको अन्तिम रात्रिमें सुन्दर सोलह स्वप्न देखे, जिनके अर्थ सुननेसे उनको विदित हुआ कि उनके बावीसवें तीर्थङ्कर जन्म लेंगे। दम्पति यह जानकर अत्यन्त हर्षित हुये। आखिर श्रावण शुक्ला पंचमीको शुभ मुहूर्तमें सती शिवादेवीने एक सुंदर और प्रतापी पुत्र प्रसव किया।

देवों और मनुष्योंने उसके सन्मानमें आनन्दोत्सव मनाया। उनका नाम अरिष्टनेमि रक्खा गया। अरिष्टनेमि युवावस्थाको पहुंचते-पहुचते एक अनुपम वीर प्रमाणित हुये। मगधके राजा जरासिंधुसे यादवोंकी हमेशा लड़ाई ठनी रहती थी। अरिष्टनेमिने अपने भुज विक्रमका परिचय इन संग्रामोंमें दिया था।

जरासिंधुके आये दिन होते हुये आक्रमणोंसे तंग आकर यादवोंने निश्चय किया कि वे अपने चचेरे भाई सुवीरकी नाईं सुराष्ट्रमें जा रमे। उन्होंने किया भी ऐसा ही। सब यादवगण सुराष्ट्रको चले गये गये और वहां समुद्रतटपर द्वारिका बसाकर राज्य करने लगे।

सु-राष्ट्रका परिचय।

इस प्रसंगमें सु-राष्ट्रके विषयमें किंचित् लिखना अनुपयुक्त नहीं है। मालूम ऐसा होता है कि यादवोंका सम्बन्ध सु-जातिके लोगोंसे था, जिन्हें सु-थेर कहा जाता है और जो मध्य ऐशियामें फैले हुये थे। किन्तु मूलमें वे भारतवर्षके ही

निवासी थे यही कारण है कि उनके निवासकी मूल भूमि काठियावाड़ सु-वर्णा अथवा सु-राष्ट्र नामसे विख्यात थी। महाभारत' में सिन्धु-सुवर्णा-प्रदेश और जातिका उल्लेख है।[1] 'सु-वर्णा' का अर्थ 'सु' जाति होता है।

जैन शास्त्रोंमें 'सिन्धु-सौवीर' देशका उल्लेख हुआ मिलता है। सौवीर देश अपनी प्रमुख नगर सौवीरपुरके कारण ही प्रख्यातिमें आया प्रतीत होता है जिसे यादवराजा सुवीरने स्थापित किया था। सुवीरका अर्थ सु जातिका वीर होता है। इनके पहले और उपरान्त काठियावाड़का उल्लेख 'सु-राष्ट्र' नामसे जैन शास्त्रोंमें भी हुआ है। इन सु-वीर लोगोंकी सभ्यताका सादृश्य सिंधु उपत्यकाकी सभ्यतासे था।

भारतीय विद्वानोंका मत है कि सु-मारीय (Sumerian) सभ्यताका विकास सिंधु सभ्यतासे हुआ था। सु-जातिके लोग सुराष्ट्रसे ही जाकर मेसोपोटेमियामें बसे थे। जैन शास्त्रोंमें एक प्रसंग मिलता है जिसमें कहा गया है कि कृष्ण-महाराजके

१-"विशाल भारत" भा० १८ अंक ५ पृष्ठ ५२६में प्रकाशित सुमेर सभ्यताकी जन्मभूमि भारत शीर्षक लेख देखना चाहिये।

२-भगवती सूत्र पृ० १८९१ (सिंधुसोवीरेसु जणवएसु) व हरि० ३-३-७, ११-५८ इत्यादि।

३-Lord Aristanemi, p. 37

४-हरि० ११-४४-७९ व ६९-१४ आव० १-१ ; नाय० १-१५-७० व्या० १-५-९।

५-"विशालभारत" भा० १८ अंक ५।

पुत्र नमि–विनमिको नागराज धरणेन्द्र अपने साथ लेगया था और उन्हें विद्याधरोंका राजा बनाया था[1]। उन्हींकी सन्तान विद्याधर नामसे मध्य ऐशिया आदिमें फैल गये थे। यादवोंके पूर्व पुरुष भी विद्याधर थे।

उपर्युल्लिखित विद्याधरोंके पूर्वज नमि–विनमि कच्छ महाकच्छ अथवा सुकच्छके पुत्र थे, जिसका अर्थ यह होता है कि उनका आवास भी सुराष्ट्र (काठियावाड़) था। उनके पिता कच्छ महाकच्छ देशके प्रमुख निवासी होनेके कारण ही उस नामसे प्रसिद्ध हुये प्रतीत होते हैं।[2] और कच्छ महाकच्छ अथवा सुकच्छ देश आजकलके कच्छ देशके पास अर्थात सिंधु सुवर्ण आदि ही होना चाहिये। इससे भी यही ध्वनित होता है कि सुराष्ट्रसे ही सुजातिके लोग मध्य ऐशिया आदि देशोंमें जारहे थे। सुमेर अथवा सुजातिके राजाओंके नाम भी प्राय वे ही मिलते हैं जो कि भारतके सूर्यवंशी राजाओंके हैं।

सुमेर राजाओंकी किशवंशावलीमें इक्ष्वाकु, विकुक्षि (जिनके भाई निमि थे), पुरजय, अनेतु (नक्ष), सगर, रघु, दशरथ और रामचंद्रके नाम मिलते हैं।

---

[1] १–आपु० सर्ग १८ श्लो० ९१–९२ व हरि० सर्ग ९ श्लो० १२७–१३०।

[2] २–'सु कच्छ' नाम क्या उन्हें 'सु' जातिसे सम्बन्धित नहीं प्रगट करता? 'उत्तरपुराण' (पर्व ६६ श्लोक ८७) में एक 'सुकच्छ' नामक देशका स्पष्ट उल्लेख है। इस देशके निवासी सु-जातीय होनेके कारण महाकच्छ सुकच्छ नामसे प्रसिद्ध हुए प्रतीत होते हैं।

यदि ऋषभदेवको इक्ष्वाकु माना जाय जिनसे नमि विनमिने राज्यकी याचना की थी, तो इस वंशके विकुक्षि और उनके भाई निमि जैन शास्त्रके नमि विनमि अथवा सुकच्छके पुत्र विकच्छ हो सकते हैं।

उधर बैबीलनके राजाने नेबुचदनेज़र अपनेको सु'मातिका देव (=नरपति) और रेवा नगरके राज्यका स्वामी लिखता ही है जिसे हम दक्षिण भारतमें अनुमान कर चुके हैं। यह राजा अपने दान पत्रमें यदुराज (कृष्ण) की राजधानी द्वारिकामें आनेका विशेष उल्लेख करता है और रैवत पर्वतसे निर्वाण पाये हुए भ नेमिके सम्मानमें एक मंदिर बनवाकर उन्हें अर्पण करनेमें गौरव अनुभव करता है।

इससे स्पष्ट है कि यदुराजके प्रति उसके हृदयमें सम्मान ही नहीं बल्कि प्रेम था। उसका कथन ऐसा ही भासता है जैसे कि कोई नया आदमी अपने पूर्वजोंकी जन्मभूमिपर पहुंचकर हर्षोद्गार प्रगट करता हो।

यादवोंका मथुरा छोड़कर सुराष्ट्रमें आना भी उनको सुमातिसे सम्बंधित प्रगट करता है। क्योंकि आपत्तिके समय अपने ही लोगोंकी याद आती है। मथुरामें जरासिंधुसे दुःखी होकर यादव सुराष्ट्रमें आये इसका अर्थ यही है कि उनको सुराष्ट्रवासियोंपर विश्वास था—वे उनके आपा भरोसा थे। उनके एक पूर्वज ही सुवीर नामसे प्रसिद्ध हुये ही थे और उधर सुमातिके नृप यदुराजके प्रति प्रेम और विनय प्रगट करते हैं।

इस सब वर्णनसे यह स्पष्ट है कि यादवोंका सुराष्ट्रवासियोंसे विशेष सम्बन्ध था और मध्य ऐशियाके सुमेर राजा भी उन्हींके सजातीय थे। जैन शास्त्रोंमें कहा गया है कि कृष्णका राज्य वैताढ्य पर्वतसे समुद्र पर्यन्त विस्तृत था। यह वैताढ्य पर्वत ही विद्याधरोंका आवास और नमिविनमिके राज्याधिकारमें था।[1]

इससे स्पष्ट है कि कृष्णके साम्राज्यमें मध्य-ऐशिया भी गर्भित था। प्राचीन भारतका आकार उतना संकुचित नहीं था, जैसा कि वह आज है। उसमें मध्य ऐशिया आदि देश सम्मिलित थे।[2] सिन्धु और सुमेर सभ्यताओंके वर्णनसे ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक समय मध्यऐशिया तक एक ही जातिके लोगोंका आवास प्रवास था।

पूर्वोल्लिखित दानपत्रमें सुमेरनृप नेवुशदनेजर अपनेको रेवा नगरका स्वामी लिखता है जो दक्षिण भारतमें रेवा (नर्मदा) तटपर होना चाहिये। इससे प्रगट है कि नर्मदासे लेकर मेसोपोटेमिया तक उसका राज्य विस्तृत था। एक राज्य होनेके कारण वहांके लोगोंमें परस्पर व्यापारिक व्यवहार और आदान प्रदान होता था। यही कारण है कि भारतीय सभ्यता जैसी ही सभ्यता और सिक्के एवं वैलीप मध्यऐशियाके लोगोंमें भी तब प्रचलित थी।

एक विद्वानका कथन है कि इन सु-जातिके लोगोंके धर्ममेंसे जैनधर्म उत्पन्न हुआ और गुजरात तथा सुराष्ट्रके जैन वणिक इन्हीं

---

[1] ज्ञातृधर्मकथाङ्गसूत्र (हैदराबाद) पृ० २२९ व हरि० पृष्ठ ४८१-४८२। [2] "सरस्वती" भाग ३८ अंक १ पृष्ठ २३-२४।

सु-राष्ट्र और जैनधर्म ।

लोगोंके वंशज हैं।[1] निस्सन्देह यह कथन सत्यांशको लिए हुए है क्योंकि इसका अर्थ यही हो सकता है कि सु-राष्ट्रवासी नमि विनमिने भगवान ऋषभका धर्म-ग्रहण करके उसका प्रचार अपने विद्याधर जातिके लोगोंमें किया था जो उपरान्त मध्य एशियामें बहुतायतसे मिलते थे। मध्य एशियावासी जातियोंमें श्रमणधर्मका सद्भाव था। यह हम अन्यत्र प्रगट कर चुके हैं।[2] इधर यह प्रगट है कि सुराष्ट्र जैनधर्मका केन्द्र रहा है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके पूर्वोक्त अधिकारमें सिन्धु-सौवीर और सुराष्ट्र थे। अन्तमें वे मुनि होगए थे और उन्होंने जैनधर्मका प्रचार किया था। उनके पश्चात् भी सुराष्ट्रमें जैनधर्मके अस्तित्वका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है।[3] स्वयं एक तीर्थंकरने सुराष्ट्रमें तपस्या और धर्मप्रचार किया था। इससे सुराष्ट्र और आनर्त निवासियोंमें जैनधर्मकी मान्यता स्पष्ट है।

भ० अरिष्टनेमिका विवाह ।

हाँ तो इस सु-राष्ट्रमें आकर यादवगण बस गये। द्वारिका उनकी राजधानी हुई और कृष्ण उसके राजा। तीर्थंकर अरिष्टनेमि कृष्णके चचेरे भाई थे। उन्होंने राजकुमारी राजुलके साथ अरिष्टनेमिका विवाह कर

---

[1] 'विशाल भारत' भा० १८ अंक ९ पृष्ठ ६११। [2] "भगवान पार्श्वनाथ" पृ० १४–१७८। [3] हरि० सर्ग १२ श्लोक ६४–७९। [4] हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण आदि ग्रंथ देखो।

देना निश्चित किया। अरिष्टनेमि दूल्हा बने—बारातके बाजा बजे और ध्वजा निशान उड़े। परन्तु अरिष्टनेमिका विवाह नहीं हुआ। उन्होंने किन्हीं पशुओंको भूखप्याससे छटपटाते हुये बाड़ेमें बन्द देखा। इस करुण दृश्यने उनके हृदयको गहरी चोट पहुँचाई। उनका कोमल हृदय इस अदयाको सहन न कर सका। पशुओंको उन्होंने बन्धन मुक्त किया, परन्तु इतनेसे ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

उन्होंने सोचा संसारके सब ही प्राणी प्रारब्ध और यमदूतके चुंगलमें फंसे हुये शरीरबन्धनमें पड़े हुये हैं—वह स्वयं भी तो स्वाधीन नहीं है! क्यों न पूर्ण स्वाधीन बना जाय? यही सोच-समझकर अरिष्टनेमिने वस्त्राभूषणोंको उतार फेंका। पालकीसे उतर कर वह सीधे रैवतक (गिरनार) पर्वतकी ओर चल दिये। वहां उन्होंने श्रावण शुक्ला षष्ठीको दिगम्बर मुद्रा धारण करके तपस्या करना आरम्भकी। घोर तपश्चरणका सुफल केवलज्ञान उन्हें नसीब हुआ। गिरिनार पर्वतके पास सहस्राम्रवनमें ध्यान माड़कर उन्होंने घातिया कर्मोंका नाश अश्विन कृष्णा अमावस्याके शुभ दिन किया।[1]

अब अरिष्टनेमि साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थंकर होगये। देव और मनुष्योंने उन्हें मस्तक नमाया और उनका धर्मोपदेश चावसे सुना। राजा वरदत्त उनका प्रमुख शिष्य हुआ। कुमारी राजुल भी साध्वी होकर आर्यिकाओंमें अग्रणी हुईं।

---

[1] हरि०, पृष्ठ ४१३-५०१।

एक सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरके रूपमें भगवान् अरिष्टनेमिने नानादेशोंमें विहार करके धर्म-प्रचार किया।

भगवानका विहार।

'हरिवंश पुराण' में लिखा है कि भगवान् अरिष्टनेमिने क्रमसे सोरठ (सुराष्ट्र), मल्टोह सूरसेन पटच्चर कुरुजांगल पांचाल कुशाग्र मगध अंजन अंग बंग कलिंग आदि देशोंमें विहार किया था।[1]

इस विहार में भगवानका शुभागमन मध्यदेशके भद्दिलपुरमें भी हुआ। यहांके राजा पौंड्रने भक्तिपूर्वक भगवानकी वन्दना की। वहीं सेठ सुदृष्टिके यहां कृष्णकी माता देवकीके छै युगलिया पुत्र रहते थे। वे भी भगवानकी वन्दना करने आये और धर्मोपदेश सुनकर मुनि हो भगवानके साथ होलिये।[2] आगे भगवान्‌का विहार पल्लवदेशमें भी हुआ। उस समय दक्षिण मथुरामें पांचों पाण्डव रह रहे थे। उन्होंने जब यह सुना कि भगवान अरिष्टनेमि यहां आये हैं तो उन्होंने जाकर भगवानकी वन्दना की। इसप्रकार भगवानने दक्षिणके देशोंमें विहार किया। पल्लवदेशमें वे कईबार पहुंचे थे। उनके इसप्रकार धर्मप्रचार करनेसे दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी प्रगति खूब हुई थी।

इधर अपने चचेरे भाई अरिष्टनेमिके मुनि हो जानेके पश्चात् कृष्ण लौटकर द्वारिका गए और वहां सानन्द राज्य करने लगे।

१–वृह० ११२। २–हरि० पृ० ११४। ३–हरि० सर्ग ६१ श्लोक ७६–७७।

जब भगवान् अरिष्टनेमि केवलज्ञानी हुये, तब वह उनकी वन्दना करने आये। उनके साथ अनेक यादवगणने तीर्थंकर अरिष्टनेमिका शिष्यत्व ग्रहण किया था। उपरान्त श्री कृष्णने दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया। और अपने अतुल पौरुषसे सारे दक्षिणभारत क्षेत्रको विजय किया। इसके पश्चात् कृष्णने आठ वर्षतक खूब भोग भोगे और अन्य राजाओंको वश किया। उपरान्त उन्होंने 'कोटिशिला' उठानेके लिये गमन किया। और उसे उठाकर अपने शारीरिक बलका परिचय जगतको करा दिया। यहासे वह द्वारिका आये और वहा उनका राज्याभिषेक हुआ। अब कृष्ण राजराजेश्वर बनकर नीतिपूर्वक राज्य करते रहे।[1]

पञ्च पाण्डव।

उधर हस्तिनापुरमें पाडव सानद रह रहे थे कि उसका विरोध कौरवोंसे हुआ। युधिष्ठिर शातिप्रिय थे। उन्होंने इस विरोधको मेटनेका उद्योग किया। परन्तु यह गृहाग्नि शात न हुई। कौरवोंने दुष्टताको ग्रहण किया। उन्होंने पाडवोंको लाक्षागारमें जला डालनेका उद्योग किया, परन्तु वे सुरंगके रास्तेसे भाग निकले। हस्तिनापुरसे चलकर पाचों पाडव और कुन्ती दक्षिण भारतमें पहुचे। वर्षों उधर ही विचरते रहे और उस ओरके राजाओंसे उन्होंने विवाह सम्बन्ध किये।

१–हरि० सर्ग ५३, कोटिशिला दक्षिण भारतमें ही कहीं अवस्थित थी। श्रीमान् ब्र० सीतलप्रसादजीने इसे कलिंगदेशमें कहीं खोजा है।

अर्जुनका ब्याह काम्पिल्य नगरके राजा द्रुपदकी राजकुमारी द्रौपदीसे पहले ही होचुका था। आखिर पांडव दक्षिण मथुरा बसा कर वहीं राज्य करने लगे थे। आज भी पांडवोंके स्मारकरूपमें दक्षिण भारतमें 'पांडव मलय' आदि स्थान मिलते हैं।[1]

द्वारिकाका नाश।

एक दफा जब भगवान अरिष्टनेमि गिरनार पर्वतपर विराजमान थे श्रीकृष्ण सपरिवार उनकी वन्दना करने गए। वन्दना करके उन्होंने तीर्थंकर भगवानसे पूछा कि द्वारिकाका भविष्य क्या है? भगवानने उत्तरमें बताया कि द्वारिकाका नाश द्वीपायन मुनिके निमित्तसे होगा। उद्दण्ड यादव युवक मदमत्त हो द्वीपायन मुनिको छेड़ेंगे और उनकी क्रोधाग्निमें सारे यादवों सहित द्वारिका भस्म होजायगी—केवल कृष्ण और बलराम बच रहेंगे। ये दोनों निराश्रय होकर दक्षिण मथुराकी ओर पांडवोंके पास जायेंगे कि रास्तेमें कौशाम्बवनके मध्य जरत्कुमारके बाणसे कृष्णका स्वर्गवास होगा।[2]

तीर्थंकरके मुखसे यह भविष्यवाणी सुनकर यादवगण भयभीत होगये और उन्होंने द्वारिकाकी रक्षाके लिये सबल उपाय किये। परन्तु भवी अमिट थी। द्वारिकाका नाश द्वीपायनकी क्रोधाग्निसे

---

[1]—हरि० सर्ग ४९ व ५४। [2]—भमबु० पृ० ६९...।

[3]—तएणं अरहा अरिट्ठनेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—एवं खलु कण्हा! तुमं बारवईए नयरीए सुरग्गिदीवायणकोवनिदड्ढाए अम्मापिइनियगविप्पहूणे रामेण बलदेवेण सद्धिं दाहिणवेयालिअभिमुहे जुहिट्ठिल्लपामोक्खाणं पंचण्हं पंडवाणं पंडुरायपुत्ताणं पासं पंडुमहुरं संपत्थिए कोसंबकाननेणं नग्गोहवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टए पीयवत्थछाइयसरीरे.. इत्यादि।

हुआ । कृष्ण और बलराम ही उस भयंकरी अग्निसे बच पाये । वे दक्षिण मथुराको चले कि मार्गमें जरत्कुमारके बाणने कृष्णकी जीवनलीला समाप्त करदी । बलराम आत्मशोकमें पागल होगये ।

पाण्डवोंने जब सुना तो वे बलरामके पास आये और उनको सम्बोधा । तब बलरामने शृङ्गी पर्वतपर कृष्णके शवका अग्निसंस्कार किया और वहीं मुनि हो वह तप तपने लगे । उस समय भगवान नेमिनाथ पल्लव देशमें विहार कर रहे थे । पाण्डव सपरिवार वहांको प्रस्थान कर गये ।[1]

निर्वाण ।

पल्लवदेशमें विहरते भगवान अरिष्टनेमिके समवशरणमें पहुंचकर पाण्डवों और उनकी रानियोंने भगवानकी वन्दना की और उनसे धर्मोपदेश सुना । सबने अपने पूर्वभव उनसे पूछे, जिनको सुनकर वे सब संसारसे भयभीत होगये । युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डवोंने तत्क्षण भगवानके चरणकमलोंमें मुनिव्रत धारण किये । कुंती, द्रौपदी आदि रानियां भी राजमती आर्यिकाके निकट साध्वी होगईं । इसप्रकार सब ही सन्यस्त होकर तप तपनेमें लीन होगए ।

अब भगवान अरिष्टनेमिका निर्वाणकाल समीप आरहा था । इसलिये वे पल्लवदेशसे चलकर उत्तरदिशामें विहार करते हुए गिरिनार पर्वतपर आ विराजे । उनके साथ संघमें पाण्डवादि भी आये । गिरनार पर्वतपर आकर भगवान् अरिष्टनेमिने निर्वाणकालसे एक मास पूर्वतक धर्मोपदेश दिया । यह उनका अन्तिम प्रवचन था ।

उपरान्त एक मास पहलेसे उन्होंने योगोंका निरोध किया। और अघातिया कर्मोंका नाश कर वे मुक्त होगये। उस समय समुद्र विजय शंबु प्रद्युम्न आदि भी गिरनारसे मोक्ष गये थे। इस पुनीत घटनाके हर्षमें देवोंने आनन्दोत्सव मनाया था। इन्द्रने गिरिनार पर एक सिद्धशिला निर्मापी जिसपर भगवान् नेमिनाथके समस्त लक्षण अंकित कर दिये।

इस प्रकार भगवानको मुक्त हुआ जानकर पांचों पाण्डव शत्रुंजय पर्वतपर जा विराजे। वहां उन्होंने महान ध्यान मांडा। उस ध्यान अवस्थामें उनपर कौरव वंशज कुर्युधन नामक दुर्जन घोर उपसर्ग किया। उसने लोहेके मुकुट आदि बनाये और उन्हें अग्निमें तपाकर पांडवोंको पहिना दिये जिससे उनके शरीर अत्यन्त बुरी तरह जल गये। परन्तु साधु पाण्डवोंने इस उपसर्गको सम भावोंसे सहन किया। युधिष्ठिर भीम और अर्जुन उसी समय मुक्त हो सिद्ध परमात्मा हुये। मुनिराज नकुल और सहदेव भाइयोंके मोहमें किंचित् फंस गये। इसलिए वे मरकर सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुये। बलभद्र भी ब्रह्मस्वर्गमें देव हुये।

उपरान्त यादवोंमें केवल जरत्कुमार शेष रह गये और उन्होंने यादवोंकी वंशपरम्परा जीवित रखी। जरत्कुमार कलिङ्गदेशमें जाकर राज्य करने लगे और वहीं उनकी सन्तान राज्याधिकारी हुई थी।

१-हरि सर्ग ६५।

भ० अरिष्टनेमि ऐतिहासिक पुरुष थे।

यहां यह प्रश्न निरर्थक है कि क्या भगवान अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक महापुरुष थे? पूर्वोल्लिखित सम्राट् नेबुचन्द्नेजरके दानपत्रमें उनका स्पष्ट उल्लेख हुआ है और उससे उनका अस्तित्व एक अति प्राचीनकालसे सिद्ध है। इस दानपत्रके अतिरिक्त गिरिनार पर्वतपर अनेक प्राचीन स्थान और लेख हैं, जो भ० अरिष्टनेमिकी ऐतिहासिकताको प्रमाणित करते हैं।

गिरिनारके बाबा प्याराके मठवाले शिलालेखमें "केवलज्ञान सम्प्राप्तानाम्" वाक्य पढ़ा गया है, जिससे स्पष्ट है कि वह स्थान किन्हीं केवलज्ञानीके प्रति उत्सर्गीकृत था।[1] और यह विदित ही है कि श्री अरिष्टनेमिने गिरिनार पर्वतके निकट केवलज्ञान प्राप्त किया था। मथुराका प्राचीन पुरातत्वकी साक्षी भी भ० नेमिके अस्तित्वको सिद्ध करती है।[2] इसके अतिरिक्त निम्नलिखित साहित्यकी साक्षी भी इस विषयके समर्थनमें उपलब्ध है।

जैनोंके प्राचीन साहित्यमें तो भगवान अरिष्टनेमिका वर्णन है ही, परन्तु महत्वकी बात यह है कि हमें वैदिक साहित्यमें भी भगवान अरिष्टनेमिका उल्लेख हुआ मिलता है। यजुर्वेद अ० ९ मंत्र

---

[1] इऐ०, भा० २० पृ० ३६१

[2] मप्रजैस्मा० पृष्ठ ८६-८८ व जैस्तूप० १३।

२५में एक अरिष्टनेमिका स्पष्ट उल्लेख है ।[1] और जैन[2] एवं अजैन विद्वान् उन्हें जैन तीर्थङ्कर ही प्रकट करते आए हैं ।

इसके अतिरिक्त 'प्रभास पुराण' में स्पष्ट लिखा हुआ है कि नेमि जिनने रैवत पर्वतसे मोक्ष लाभ किया था ।[4] इस साक्षीके समक्ष भ० अरिष्टनेमिके अस्तित्वमें शङ्का करना व्यर्थ है । विद्वानोंका मत है कि जब नेमिप्रभुके चचेरे भाई श्री कृष्णको ऐतिहासिक पुरुष माना जाता है तो कोई वजह नहीं कि तीर्थङ्कर नेमि वास्तविक पुरुष न माने जांय । डॉ० फुहरर और प्रो० बारनेट सा०ने स्पष्टतया भगवान् अरिष्टनेमिकी ऐतिहासिकता स्वीकार की है ।[5]

इस प्रकार भगवान् अरिष्टनेमिके चरित्रसे यह प्रकट है कि उनके द्वारा दक्षिण भारतके पल्लव मलय आदि देशोंमें जैन धर्मका प्रचार हुआ था और इस साक्षीसे दक्षिण भारतमें जैन धर्मकी प्राचीनता भी स्पष्ट होती है ।

१—नामस्यन्तु पसव ज्ञानमूलता च विश्वसुखमानि सन्ति ।
स नेमिराजा परिपाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो ॥१९॥२५॥

२—श्री टोडरमल कृत 'मोक्षमार्ग-प्रकाश' देखो ।

३—प्रो० स्वामी विरूपाक्ष वडियारने यही अर्थ किया था—देखो जैन पथ प्रदर्शकका विशेषांक [वर्ष ३ अङ्क ३] ऋग्वेद (१।९४।२६) के इस मंत्रका 'स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमि' का अर्थ 'अरिष्टनेमि (संसार सागरको पार कर जानेमें समर्थ) ऐसा जो अरिष्टनेमि तीर्थङ्कर है वह हमारा कल्याण करे' किया था ।

४—'रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले ।
ऋषीणां याश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥'

५—देखो पृ ८८-८९

भगवान् पार्श्वनाथ।

काशी देशमें इक्ष्वाकुवंश—उग्रकुलके राजा विश्वसेन राज्य करते थे। बनारस उनकी राजधानी थी और वहीं उनका निवासस्थान था। रानी ब्रह्मदत्ता उनकी पटरानी थी। पौषकृष्ण एकादशीको उन रानीने एक प्रतापी पुत्र प्रसव किया, जिसके जन्मते ही लोकमें आनंद और हर्षकी एक धारा बह गई। देवों और मनुष्योंने मिलकर खूब उत्सव मनाया। उस पुत्रका नाम 'पार्श्व' रक्खा गया और वहीं जैन धर्मके २३ वें तीर्थङ्कर हुये।

युवावस्थाको प्राप्त करके राजकुमार पार्श्व राज—काजमें व्यस्त होगये। वह अपने पिताके साथ प्रजाका हित साधनेमें ऐसे निरत हुये कि उनका नाम और काम चहु ओर फैल गया। लोग उन्हें "सर्वजन प्रिय" (People's Favourite) कहकर पुकारते थे।

एकदफा कुमार पार्श्वनाथ मित्रों सहित वनविहारके लिये निकले। बागमें उन्होंने देखा कि उनका नाना महीपालपुरका राजा तापसके भेषमें पचाग्नि तप रहा है। वह उल्टा मुख किये पेड़में लटका हुआ था। कञ्चन—कामिनीका मोह उसने त्याग दिया था, परन्तु फिर भी उसके त्यागमें कमी थी। उसे घमंड था कि मैं साधु हूं। मुझसा संसारमें और कोई नहीं। इस घमंडके दर्पमें वह अपने 'आप' को भूल गया। उसकी आत्मोन्नतिका मार्ग अब कुण्ठित होगया। लेकिन वह तप तपता और कायक्लेश सहता था। पार्श्वकुमार और उनके मित्रोंको उसने देखा। उसको उन्हें चीननेमें

देर न लगी । पर वह साधु था । उनका अभिवादन पाये बिना वह क्यों बोले ? सत्य—सहजकी रीति उसे पसन्द न थी । पार्श्वकुमारने उसकी मूढ़ता देखी । वह उसे क्या अभिवादन क्या करते ? हाँ, वह उसका सच्चा हित साधनेके लिये तुल पड़े ।

उन्होंने कहा कि यह साधुमार्ग नहीं है । अग्नि सुलगाकर व्यर्थ जीवोंकी हिंसा करते हो ! राजकुमारके इन शब्दोंने उस साधुको आग-बबूला बना दिया । उसने कुल्हाड़ी उठाई और [illegible] लकड़ीके मोटेको वह फाड़ने लगा । उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा जब उसने उस लकड़ीकी खोखलमें एक मरणासन्न सर्पयुगल देखा ! उसका मन तो मान गया परन्तु धर्मका भूत सिरसे न उतरा ! यही कारण था कि वह अहिंसा धर्मके महत्त्वको न समझ सका । सर्पयुगलको भ० पार्श्वने सम्बोधा ! वे समभावोंसे मरे और धरणेन्द्र—पद्मावती हुये ।

इस रीतिसे भ० पार्श्वनाथ कौमारकालसे ही जनतामें धार्मिक सुधार कर रहे थे । उनके समयमें धर्मके नामपर तरह तरहके अनर्थ प्रचलित होगये थे । पार्श्व प्रभूने उनको मेंटना आवश्यक समझा । उन्होंने देखा कि समाजमें गृहत्यागियोंकी मान्यता है और बिना गृह त्याग किये सत्यके दर्शन पा लेना दुर्लभ है । इसलिये उन्हें घरमें रहना दूभर होगया ।

आखिर उन्हें एक निमित्त मिल गया—जब वे दिगम्बर मुनि होगये । मुनि अवस्थामें उन्होंने घोर तप तपा । ज्ञान-ध्यानमें वे लीन रहे । अपनी शक्तिको पराकाष्ठातक वे पहुँच गये । एक जन्मोंसे

दिन 'ज्ञान' मूर्तिमान् हो उनके अभ्यन्तरमें नाचने लगा। पार्श्वनाथ साक्षात् भगवान् होगये—वे अब सर्वज्ञ तीर्थंकर थे। ज्ञान प्रकाशका धवल आलोक उनके चहुंओर छिटक रहा था। ज्ञानी जीव उनकी शरणमें पहुंचे। भगवानने उन्हें सच्चा धर्म बताया, जिसे पाकर सब ही जीव सुखी हुये—सबने समानताका अनुभव किया और आत्मस्वातंत्र्यके वे अधिकारी हुये।

अपने इस विश्वसन्देशको लेकर भगवान पार्श्वनाथने सारे आर्यदेशमें विहार किया। जहां-जहां उनका शुभागमन हुआ वहां वहांके लोग प्रतिबुद्ध हो सन्मार्ग पर आरूढ़ हुये। भगवान पार्श्वनाथके धर्मप्रचारका वर्णन सकलकीर्ति कृत 'पार्श्वनाथचरित्' में निम्न-प्रकार लिखा हुआ है—

"तत्त्वभेदप्रदानेन श्रीमत्पार्श्वप्रभुर्महान्।
जनान् कौशलदेशीयान् कुशलान् संव्यधाद्भृशं ॥ ७६ ॥
भिंदन् मिथ्यातमोगाढं दिव्यध्वनिप्रदीपकैः।
काशीदेशीयलोकान् स चक्रे सद्धर्मतत्परान् ॥ ७७ ॥
श्रीमन्मालवदेशीयभव्यलोकसुचातकान्।
देशनारसधाराभिः प्रीणयामास तीर्थराट् ॥ ७८ ॥
अवन्तीयान् जनान् सर्वान् मिथ्यात्वानलतापितान्।
यान्निर्वापयामास . पार्श्वचन्द्रामृते ॥ ७९ ॥
गौर्जराणां जनानां हि पार्श्वसम्राट् जितेंद्रियः।
मिथ्यात्व जर्जरं चक्रे सद्वच शस्त्रघातनैः ॥ ८० ॥
महाव्रतधरान् काश्चिन्महाराष्ट्रजनान्व्यधात्।
[illegible]—नेन पार्श्वकल्पद्रुमस्तथा ॥ ८१ ॥

पार्श्वप्रभुः क्रमेण नु पाश्चात्यादेविहारत ।
सर्वान् सौराष्ट्रलोकांश्च पवित्रान् विदधेप्रभुः ॥ ८२ ॥
अंगे वंगे कलिंगेऽप कर्णाटे कोंकण तथा ।
मेदपाटे तथा लाटे किरिणो द्राविड तथा ॥ ८३ ॥
काश्मीरे मगधे कच्छे विदर्भे च दशार्णके ।
पंचाले पल्लवे वत्से नगमीरे मनोहरे ॥ ८४ ॥
इत्यार्यखण्डदेशेषु भव्योपकारस महाधनी ।
दर्शनज्ञानचारित्ररत्नान्यमेघो नभस्यवत् ॥ ८५ ॥ १५ ॥

भावार्थ—स्वसंवेदको प्रदान करनेके लिये महान् प्रभु श्री पार्श्व भगवानने कौशल देशके कुसुम पुरमें विहार किया और अपनी दिव्यध्वनिरूप नदीसे गहन मिथ्यात्वकी अग्नियां बुझा दीं। फिर संयममें तत्पर काशी देशके मनुष्योंमें धर्मामृतका प्रभाव फैलाया। श्री मालवदेशके निवासी अन्धकाररूप पापकर्मोंने भी तीव्रतासे धर्मामृतका पान किया था जिनकी तृषा था मिथ्यात्वसे तप्त था, सो पार्श्वरूपी चन्द्रके अमृतको पाकर शांत होगया था। गौड़ देशमें भी जितेन्द्रिय पार्श्व प्रभु रूप सूर्यके प्रभावसे मिथ्यात्व बिल्कुल तिरोहित होगया था। महाराष्ट्र देशवासियोंमें अनेकोंने पार्श्व भगवानसे दीक्षा ग्रहण की थी। तब सौराष्ट्र देशमें भी पार्श्व भट्टारकका विहार हुआ था जिससे वहांके लोग पवित्र होगए थे। अंग वंग कलिंग, कर्णाटक कोंकण मेदपाट, लाट, द्राविड़, काश्मीर मगध कच्छ विदर्भ शाक पंचाल पल्लव, वत्स इत्यादि आर्यखंडके देशोंमें भी भगवानके उपदेशसे सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र रत्नोंकी अभिवृद्धि हुई थी।

भगवान पार्श्वनाथके इस विहार विवरणसे स्पष्ट है कि उनका शुभागमन दक्षिण भारतके देशोंमें भी हुआ था। महाराष्ट्र कोंकण, कर्नाटक, द्राविड़, पल्लव आदि दक्षिणावर्ती देशोंमें विचर करके तीर्थङ्कर पार्श्वनाथने एक वार पुन जैन धर्मका उद्योत किया था। दक्षिण भारतमें भगवान् पार्श्वनाथके शुभागमनको चिरस्मरणीय बनानेवाले वहां कई तीर्थ आज भी उपलब्ध हैं। अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ, कलिकुड पार्श्वनाथ आदि तीर्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। दक्षिण भारतके जैनी भगवान् पार्श्वनाथका विशेषरूपमें उत्सव भी मनाते हैं।

महाराजा करकंडु।

भगवान पार्श्वनाथके शासनकालमें सुप्रसिद्ध महाराजा करकंडु हुये थे। इन्हें शास्त्रोंमें 'प्रत्येक बुद्ध' कहा गया है और उनकी मान्यता जैनेतर लोगोंमें भी है।

उत्तर भारतके चम्पापुरमें धाडीवाहन नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानी पद्मावती गर्भवती थी। एक दिन हाथीपर सवार होकर राजा और रानी वनविहारको गये। हाथी विचक गया और उन्हें जगलमें लेभागा। राजा तो पेड़की डाली पकड़कर बच गया। परन्तु रानीको हाथी लिये ही चला गया। वह दन्तिपुरके पास एक जलाशयमें जा घुसा। रानीने कूद कर अपने प्राण बचाये और एक मालिनके घर जाकर वह रहने लगी। किंतु मालिनके क्रूर स्वभावसे वह तंग आगई और एक स्मशान भूमिमें वह जा बैठी।

क्योंकि वैधिव्यके विचारती हुई पद्मावती रानी यहां बैठी थी कि यहीं उन्होंने एक पुत्र प्रसव किया। एक मातङ्ग वेषधारी विद्याधरने उस समय पद्मावती रानीकी सहायता की—नवजात शिशुकी रक्षाका भार उसने अपने ऊपर लिया। उस विद्याधरने उस बालकको खूब पढ़ाया—लिखाया और शस्त्र चलानेमें निष्णात बनाया। बालकके हाथमें सूखी खुजली थी। इस कारण उसे ' करकंडु ' नामसे पुकारने लगे।

बालक करकंडु भाग्यशाली था। जब वह युवा हुआ तो दन्तिपुरके राजाका परलोकवास होगया। उसके कोई पुत्र न था। राजमंत्रियोंने दिव्य निमित्तसे करकंडुको राज्यके योग्य पाकर उन्हें दन्तिपुरका राजा बनाया। राजा होनेके कुछ समय पश्चात् करकंडुका विवाह गिरिनगरकी राजकुमारी मदनावलीसे होगया।

चम्पाके राजाने करकंडुको अपना आधिपत्य स्वीकारनेके लिये बाध्य किया जिसे करकंडुने अस्वीकार किया। आखिर दोनों ओरसे युद्धकी नौबत आई परन्तु पद्मावतीने बीचमें पड़कर पिता पुत्रकी सन्धि कराई। धाड़ीवाहन पुत्रको पाकर बहुत हर्षित हुए। उन्होंने चम्पाका राज्यभार करकण्डुको सौंपा और आप मुनि होगये। करकण्डु सानन्द राज्य करने लगे।

एकबार करकंडुको यह कामना हुई कि उनकी आज्ञा सारे भारतमें निर्बाध रीतिसे मान्य हो; किंतु मंत्रियोंसे उन्हें मालूम हुआ कि द्राविड़ देशके चोल चेर और पाण्ड्यनरेश उनकी आज्ञाको नहीं मानते हैं।

राजाने उनके पास दूत भेजा, परन्तु उन्होंने करकंडुका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। इस उत्तरको सुनकर करकंडु चिढ़ गया। और उसने उनपर तुरन्त चढ़ाई कर दी। मार्गमें वह तेरापुर नगर पहुंचे। और वहांके राजा शिवने उनका सन्मान किया। वहीं निकटमें एक पहाड़ी और गुफायें थीं। करकंडु शिवराजाके साथ उन्हें देखने गया। गुफामें उन्होंने भगवान पार्श्वनाथका दर्शन किया। वहीं एक वामीको उन्होंने खुदवाया और उसमेंसे जो भगवान पार्श्वनाथकी एक मूर्ति निकली, उसको उन्होंने उस गुफामें विराजमान किया। मूर्ति जिस सिंहासन पर विराजमान थी उसके बीचमें एक भद्दी गाँठ दिखती थी। करकंडुने उसे तुड़वा दिया, किंतु उसके तुड़वाते ही वहाँ भयंकर जलप्रवाह निकल पड़ा। करकंडु यह देखकर पछताने लगे। उस समय एक विद्याधरने आकर उनकी सहायता की और उसने उस गुफाके बननेका इतिहास भी उनको बताया।

विद्याधरके कथनसे करकंडुको मालूम हुआ कि दक्षिण विजयार्द्धके रथनूपुर नगरसे राजच्युत होकर नील महानील नामके दो भाई तेरपुरमें आरहे थे। यह दोनों विद्याधर वंशके राजा थे। धीरे धीरे उन्होंने वहाँ राज्य स्थापित कर लिया। एक मुनिके उपदेशसे उन्होंने जैन धर्म ग्रहण कर लिया और वह गुफा मंदिर बनवाया। उस गुफा मंदिरमें एक मूर्ति ठेठ दक्षिणभारतसे आई हुई उस विद्याधरने बताई।

रावणके वंशजोंने मलयदेशके पूदी पर्वतपर एक जिनमंदिर

बनवा कर वह सुन्दर जिनमूर्ति स्थापित कराई थी। कोई विद्याधर उस मूर्तिको वहाँसे उठा लाया और तेरापुरमें उसको उतारा। फिर वह उस मूर्तिको वहाँसे नहीं ले जासके। करकण्डु यह सब कुछ सुनकर बहुत प्रसन्न हुये। करकंडुने वहाँ दो गुफायें और बनवाईं।

तेरापुरसे करकण्डु सिंहलद्वीप पहुंचे और वहाँकी राजपुत्री रतिवेगाका पाणिग्रहण किया। उपरान्त एक विद्याधर पुत्रीको ब्याह कर उन्होंने चोल, चेर और पाण्ड्य नरेशोंकी सम्मिलित सेनाका मुकाबला किया और हराकर अपना प्रण पूरा किया। किन्तु जब करकण्डुने उन्हें जैनधर्मानुयायी जाना उनके मुकुटोंमें जिनप्रतिमायें देखी तो उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने उन्हें पुन राज्य देना चाहा पर वे स्वाभिमानी द्राविड़ाधिपति यह कहकर तपस्याको चले गये कि अब हमारे पुत्र पौत्रादि ही आपकी सेवा करेंगे। वहाँसे लौटकर तेरापुर होते हुये करकंडु चम्पा आगये और राज्यसुख भोगने लगे।

एक दिन चम्पामें शीलगुप्त नामक मुनिराजका शुभागमन हुआ। करकंडु सपरिवार उनकी वन्दनाको गया। मुनिराजसे उन्होंने धर्मोपदेश और अपने पूर्वभव सुने जिनके सुननेसे उन्हें वैराग्य होगया और वे अपने पुत्र वसुपालको राज्य देकर मुनि हो गये। मुनि अवस्थामें उन्होंने घोर तप तपा और मोक्ष प्राप्त किया। उनकी रानियाँ भी साध्वी होगई थीं।

महाराजा करकंडुकी बनवाई हुई गुफायें आज भी हैदराबाद राज्यके उस्मानाबाद जिलेमें तेर नामक स्थानपर मिलती हैं। उनकी

रचना और क्रम ठीक वैसा ही है जैसा कि करकंडुकी बनवाई हुई गुफाओंका था । और वहांपर जीमूतवाहन विद्याधरके वंशजोंका एक समय राज्य भी था । वे 'तगरपुरके अधीश्वर' कहलाते थे । उपरान्त वे ही लोग इतिहासमें शिलाहारवंशके नामसे परिचित हुये थे । करकण्डु महाराजकी सहायता करनेवाला भी एक विद्याधर था और उसने यह कहा था कि—नील महानील विद्याधरोंके वंशज तेरापुर (तगरपुर) में राज्य करते थे । इससे स्पष्ट है कि शिलाहारवंशके राजा उन विद्याधरोंके ही अधिकारी थे, जिनमें जैनधर्मकी मान्यता थी । शिलाहार राजाओंमें भी अधिकांश जैनी थे । इससे भी दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्राचीन अस्तित्व सिद्ध है । ×

भगवान् महावीर-वर्द्धमान् ।

भगवान महावीर जैन धर्ममें माने हुये चौवीस तीर्थङ्करोंमें अन्तिम थे । वे ज्ञातृवंशी क्षत्रिय नृप सिद्धार्थके पुत्र रत्न थे । उनका जन्म वैशालीके निकट अवस्थित कुण्ड ग्राममें हुआ था और उनके जीवनका अधिकांश समय उत्तर भारतमें ही व्यतीत हुआ था, परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि दक्षिण भारतके लोग उनके धर्मोपदेशसे अछूते रहे थे । यह अवश्य है कि उनका विहार ठेठ दक्षिणमें शायद नहीं हुआ हो । वहां उनके पूर्वगामी तीर्थङ्कर श्री अरिष्टनेमी आदि

× विशेषके लिये 'करकण्डुचरिय' (कारंजा जैन ग्रन्थमाला) की भूमिका देखना चाहिये, जिसके आधारसे यह परिचय सधन्यवाद लिखा गया है ।

और उनके शिष्योंका ही विहार हुआ[1] परन्तु विन्ध्याचलके निकटवर्ती प्रदेश अर्थात् दक्षिण पथमें भगवान महावीरका शांति-सुख विस्तारक समोशरण निस्सन्देह अवतरित हुआ था।

जब लगभग तीस वर्षकी अवस्थामें उन्होंने गृह त्याग करके दिगम्बर मुनिका वेष धारण किया तब वे उत्तर और पूर्वीय भारतमें ही विचरते रहे। उधर पूर्व-दक्षिणमें लाढ़ वज्रभूमि आदि देशोंमें भगवान्‌ने विहार किया था और इधर पश्चिम दक्षिणमें वे उज्जैन तक पहुँचे थे। उज्जैनके महाकाल स्मशान भूमिमें जब भगवान् विराजे रहे थे तब उनके अलौकिक ध्यान ज्ञान अभ्यासको सहन न करके रुद्र नामक व्यक्तिने उन पर घोर उपसर्ग किया था। इस घटनाके बाद भगवान्‌का विहार उत्तर पूर्व दिशाको हुआ था।

अन्ततः जृम्भकग्रामके निकट ऋजुकूला नदीके तटपर उन्होंने घोर तपश्चरण किया था और वहीं उनको केवलज्ञानकी सिद्धि हुई थी। यह पवित्र स्थान आधुनिक झिरियाके निकट अनुमान किया गया है।[2] अतएव तीर्थंङ्कर होकर भगवानने राजगृहकी ओर प्रस्थान किया था और वहांसे वे प्रायः सर्वत्र उत्तर भारतमें विचरते रहे थे। ठीकसे नहीं कहा जासकता कि वे कहाँ-कैसे और कब पहुँचे थे परन्तु इसमें संशय नहीं कि जब वे सूरसेन, दशार्ण आदि

---

[1] शायद यही कारण है कि दक्षिण भारतके जैनोंने अपने संघको 'मूलसंघ' कहा है। अतः जैनधर्मके यथार्थ दर्शन दक्षिण भारतीय साहित्यमें ही होना संभव है।

[2] वीर भा० ९ पृष्ठ ३१४-३१६।

देशोंमें होते हुये सिन्धु सौवीर देशमें पहुंचे थे, तब विपानके सनार स्थित देश उनके सम्पर्कमें आनेसे नहीं बचे।

हेमांगदेशकी राजधानी राजपुरमें भगवानका शुभागमन हुआ था। राजपुर दण्डकारण्यके निकट अवस्थित था।[1] वहांके राजा जीवन्धर अत्यंत पराक्रमी थे। उन्होंने पल्लवदेशादि विजय किये थे। उनका विवाह दक्षिण भारतके देशोंमें भी हुआ था। दक्षिणस्थ क्षेमपुरीमें उन्होंने दिव्य जिनमंदिरके दर्शन किये थे। आखिर वे भ० महावीरके निकट मुनि होगये थे। पोदनपुरमें राजा प्रसन्नचंद्र भ० महावीरका भक्त था। पोलासपुरका राजा भी भगवान महावीरका शिष्य था।

भगवान्‌का शुभागमन इन देशोंमें हुआ था। इससे आगे वे गये थे या नहीं, यह कुछ पता नहीं चलता। हां, हरिवंशपुराण[2] में अवश्य कहा गया है कि भ० महावीरने ऋषभदेवके समान ही सारे आर्य देशमें विहार और धर्मप्रचार किया था। इसका अर्थ यही है कि दक्षिण भारतमें भी वे पहुंचे थे।

सम्राट् श्रेणिक, जम्बूकुमार और विद्युच्चर।

श्रेणिक बिम्बसार।

भगवान् महावीर-वर्द्धमानके अनन्य भक्त सम्राट् श्रेणिक थे। तब मगधमें शिशुनागवंशके राजाओंका राज्य था। श्रेणिक उस ही वंशके रत्न और मगध साम्राज्यके संस्थापक थे। मगध राज्यका उन्होंने खूब ही विस्तार किया था। कहते हैं कि

---

[1] जैसिभा०, भा० २ पृष्ठ ९,–१०२। [2] हरि०, पृष्ठ १८।

भारतकी पश्चिमोत्तर सीमापर से बढ़ते हुए ईरानियोंको सम्राट् श्रेणिकने ही दूर भगा दिया था। श्रेणिकके पुत्र अभयराजकुमार थे। वह राजनीति और नयमें अति प्रवीण थे। मालूम होता है कि ईरानके राजवंशसे उनका प्रेममय व्यवहार था।

श्रेणिकने ईरान और उसके निकटवर्ती देशोंमें जिनमूर्तियां स्थापित कराई थी। अभयराजकुमारने अपने मित्र ईरानके राजपुत्र आर्द्रकके लिए खास तौरपर एक जिनमूर्ति भेजी थी। आर्द्रक उस बिम्बमूर्तिके दर्शन करके ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ कि सीधा भगवान महावीरके समोशरणमें आ मुनिधर्ममें दीक्षित होगया।[1] निस्संदेह सम्राट् श्रेणिक और उनके सुपुत्रोंने मगध राज्यकी समृद्धिके साथ जैनधर्मकी महान् सेवा और प्रभावना की थी।

जम्बूकुमार।

मगधकी राजधानी राजगृह नगरी थी। वहांपर अर्हद्दास नामक एक धर्मात्मा सेठ रहते थे जिनकी पत्नी जिनमती थी। फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षमें एक शुभ दिन जब चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र पर था तब प्रातः समय उस सेठानीकी कोखसे एक पुत्र-रत्नका जन्म हुआ। माता-पिताने उसका नाम जम्बूकुमार रक्खा। जम्बूकुमारने युवा होकर सब ही प्रसंगात्मक विषयक विद्या कार्योंमें योग्यता प्राप्त कर ली थी। राजदरबारमें भी इनकी मान्यता होगई। सम्राट् श्रेणिक इनका खूब सम्मान करते थे।

१– भारि ’ (अक्टूबर १९१) पृ ४३८

२–वीर मा १ अ १ पृ ११-२१

केरल विजय ।

उस समय दक्षिण भारतके केरल देशमें एक विद्याधर राजा राज्य करता था। उस ओर विद्याधर वंशके राजाओंने प्राचीनकालसे अपना आधिपत्य जमा रक्खा था। बस, केरलके उस विद्याधर राजाका नाम मृगांक था। सम्राट् श्रेणिकसे उसकी मित्रता थी। मृगांकपर हंसद्वीप (लंका) के राजा रत्नचूलने आक्रमण किया था। मृगांककी सहायताके लिये श्रेणिकने जम्बूकुमारके सेनापतित्वमें अपनी सेना भेजी थी।

जम्बूकुमारने वीरतापूर्वक शत्रुका संहार किया था। इस युद्धमें उनके हाथसे आठ हजार योद्धाओंका संहार हुआ था। उपरांत मृगांकने अपनी कन्या विलासवतीका विवाह श्रेणिकके साथ किया था। जब श्रेणिक केरल गये हुये थे तब उन्होंने विन्ध्याचल और रेवा नदीको पार करके कुरल नामक पर्वतपर विश्राम किया था और वहांपर स्थापित जिन बिम्बोंकी पूजा–अर्चना की थी।[1]

दक्षिण भारतके इतिहाससे यह सिद्ध है कि प्राचीन कालमें हंसद्वीप (लंका) और तामिल पाण्ड्यादि दक्षिण देशवासियोंके मध्य परस्पर आक्रमण होते रहते थे। उधर यह भी प्रगट है कि नन्द-

---

[1] १–'जम्बूकुमार चरित्' में विशेष परिचय देखो—

'ततस्तां च समुत्तीर्य प्रतस्थे केरलां प्रति।
विशश्राम क्षियत्कालं नाम्ना कुरलभूधरे ॥१४३॥७॥
पूजयामास भूमीशस्तत्र बिम्बं जिनेशिनः।
मुनीनपि महाभक्त्या ततः प्रस्थातुमुद्यतः ॥१४४॥

राजाओंने दक्षिण भारतपर आक्रमण किये थे। इस अवस्थामें यह संभव है कि श्रेणिकने राजा मृगांककी सहायता की हो।

केरल विजय करके श्रेणिक और जम्बूकुमार लौटकर सानन्द राजगृह आये और खूब विजयोत्सव मनाया।

एक रोज जम्बूकुमारका समागम मुनिराज श्री सुधर्माचार्यसे हुआ जिससे उन्होंने अपने पूर्वभव सुने। उन्होंने जाना कि सुधर्माचार्य उनके पूर्वभवके भाई हैं। वह भी भाईकी तरह मुनि होजानेके लिये उद्यमी होगये परन्तु सुधर्माचार्यने उन्हें उस समय दीक्षित नहीं किया। जम्बूकुमार माता पिताकी आज्ञा लेनेके लिये घर चले गये। वहां उन्हें पितृगणके विशेष आग्रहसे विवाह करना पड़ा परन्तु उन्होंने नवबधुओंके साथ रहकर रतिक्रीड़ामें समय नहीं गंवाया। उन सबको समझा बुझाकर वे दिगम्बर मुनि होगये।

विद्युच्चर।

जिस समय जम्बूकुमार अपनी पत्नियोंको समझा रहे थे उस समय विद्युच्चर नामका चोर उनकी बातें सुन रहा था जिसका उसपर बेहद असर पड़ा। और वह भी अपने पांचसौ शिष्यों सहित जम्बूकुमारके साथ मुनि होगया। यह विद्युच्चर दक्षिण पथके प्रसिद्ध नगर पोदनपुरके नरेश विद्युद्राजका पुत्र विद्युत्प्रभ था। इसने चौर्य शास्त्रका अध्ययन किया था और उसका अभ्यास

१—जम्बू पृ० ७९ जम्बूकुमार चरित् में इन्हें हस्तिना पुरके राजाका पुत्र लिखा है, परन्तु यह विद्युत इससे भिन्न चोर व पाण्डवपुराणके [illegible]।

करनेके लिये राजगृह चला आया था। दक्षिण भारतके देशोंमें उसने खासा भ्रमण किया था।

समुद्रके निकट स्थित मलयाचल पर्वतपर वह पहुंचा था। वहांसे वह सिंहलद्वीप भी गया था, जहांसे वापिस होकर वह केरल आया था। द्रविड देशको उसने जैन मंदिरों और जैनियोंसे परिपूर्ण देखा था। फिर वह कर्णाटक काम्बोज, काचीपुर, सह्यपर्वत, महाराष्ट्रादिमें होता हुआ विंध्याचलके उस पार आभीर देश, कोङ्कण, किष्किन्धादिमें पहुंचा था। इस वर्णनसे भी उस समय दक्षिण भारतमें जैन धर्मका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

जम्बूकुमार और विद्युच्चरने अपने साथियों सहित भगवान् सौधर्माचार्यसे मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। विपुलाचल पर्वत परसे जब सुधर्मस्वामी मुक्त हुये तब जम्बूस्वामी केवलज्ञानी हुये।

१–"दक्षिणस्या दिशि प्राप्य समुद्र मलयाचलम्।
पटीरादिद्रुमाकीर्णमप्रोत्तुगमनोहरम् ॥ २१५ ॥
अगम्य हि सिंहलद्वीप केरल देशमुत्तमम्।
द्रविड चैत्य गृहग्राम जैनलोकपरिवृतम् ॥ २१६ ॥
चीन कर्णाटसंज्ञ च काम्बोज कौतुकावहम्।
काचीपुर सुकान्त्या च कांचनाभ मनोहरम् ॥ २१७ ॥
कौतल च समासाद्य सह्य पर्वतमुत्तमम्।
महाराष्ट्र च वैदर्भदेश नानाजनाकुलम् ॥ २१८ ॥
विचित्र नर्मदातीर प्रदेश विंध्यपर्वतम्
विंध्याटवीं समुल्लंघ्य तद्देशवर्तितहनम् ॥ २१९ ॥ इत्यादि।
—जम्बू० पृ० १८८

उन्होंने मगधादि देशोंमें धर्मप्रचार किया और आखिर विपुलाचल पर्वतपरसे वह भी निर्वाण पधारे।

एकदा विद्युच्चर अपने पांचसौ साथियों सहित मथुराके उद्यानमें आ विराजे वहां उन पर घोर उपसर्ग हुआ। सब मुनियोंने समतापूर्वक समाधिमरण किया। उनकी पवित्र स्मृतिमें वहां पांचसौ स्तूप निर्माण किये गये थे जो अकबर बादशाहके समय तक वहां विद्यमान थे।[1]

नन्द और मौर्य्य सम्राट्।

नन्द-राजा।

शिशुनागवंशके प्रतापी राजाओंके पश्चात् मगध साम्राज्यके अधिकारी नन्दवंशके राजा हुए थे। उस समय मगधका शासक ही भारतवर्षका प्रमुख और अग्रगण्य नृप अथवा सम्राट् समझा जाता था। इसी कारण मगधका अधिकार पाते ही नन्दराजा भी भारतके प्रधान शासक समझे जाने लगे। यहां तक कि विदेशी-यूनानी लेखकोंने भी नन्दोंकी प्रधानता और प्रसिद्धिका उल्लेख किया है। इन नन्दोंमें सम्राट् नन्दवर्द्धन् और महापद्म मुख्य थे। नंदवर्द्धनने एक भारतव्यापी दिग्विजय की थी, जिसमें उसने दक्षिण भारतको भी विजय किया था।

पश्चिम भारतके एक शिलालेखसे यह स्पष्ट है कि नन्दरा-

१–जम्बू० पृ० १–११ मथुरामें विद्युच्चरकी स्मृतिमें स्तूपोंका होना इस कथानककी सत्यताका प्रमाण है। २–[illegible], पृष्ठ ११९।

जाओंने कुन्तलदेश पर शासन किया था और कदम्ब वंशके राजा उन्हें अपना पूर्वज मानते थे।[1] कुन्तलदेश आजकलके पश्चिमीय दक्खिन (Deccan) और उत्तरीय मैसूर जितना था। दक्षिणभारतके होसकोटे जिलेमें नन्दगुडि नामक ग्राम उत्तुङ्गभुज नामक राजाकी राजधानी बताई जाती है और कहा जाता है कि नंदराजा उसके भतीजे थे। उसने उनको कैद कर लिया था, परन्तु उन्होंने मुक्त होकर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था।[2] परन्तु कहा नहीं जा सकता कि इस जनश्रुतिमें कितना तथ्य है, तो भी यह स्पष्ट है कि नंद साम्राज्यका विस्तार दक्षिण भारत तक था। कुतलदेश नन्दराजाओंके शासनाधीन था।

मौर्य्य-सम्राट्।

नन्दराजाओंके पश्चात् भारतके प्रधान शासक मौर्य्यवंशके शासक हुये। चन्द्रगुप्त मौर्य्यने अन्तिम नंदराजा और उसके सहायकोंको परास्त करके मगध साम्राज्य पर अपना अधिकार जमाया था। उधर पश्चिमोत्तर सीमा प्रांतसे यूनानियोंको खदेड़कर चन्द्रगुप्तने उत्तर भारतमें अफगानिस्तान तक अपना राज्य स्थापित किया था। और यह प्रगट ही है कि दक्षिण भारतके एक भागको नन्द राजाओंने ही मगध साम्राज्यमें मिला लिया था। इसलिये चन्द्रगुप्तका अधिकार स्वत उस प्रदेशपर होगया था। एक शिलालेखमें स्पष्ट कहा गया है कि शिकारपुर तालुकके नाग-

---

[1] इका० ७, शिकारपुर २२९ व २३६, मैकु० पृष्ठ ३ व जमीसो० भा० २२ पृष्ठ ९०४। [2] जमीसो० भा० २२ पृष्ठ ९०५।

सम्पत्ती रक्षा प्राचीन क्षत्रिय-चारित्र आक्रमण-चन्द्रगुप्त करते थे।[1] चन्द्रगुप्तने कृष्णा नदीके किनारेपर भी आरम्भमें एक नगर भी बसाया था। किन्तु मालूम होता है कि मौर्योंको उपरान्त दक्षिण भारतमें अधिकाधिक राज्य विस्तारकी आकांक्षा हुई थी। तदनुसार मौर्य्योंने तामिल देशपर आक्रमण किया था।

मौर्य्योंके इस आक्रमणका उल्लेख तामिलके प्राचीन 'संगम्' साहित्यमें मिलता है। संगम् कवि मामूलनार, परनर, मम्मुलने अपनी रचनाओंमें मौर्य्य आक्रमणका वर्णन किया है। इससे ज्ञात होता है कि दक्षिणके तीनों प्रधान राज्यों-चेर चोल और पाण्ड्यने मिलकर मौर्य्योंका मुकाबिला किया था।

तामिल सेनाके सेनापति पाण्डियन्नेदुन्चेलियन नामक महानुभाव थे। मोहुरका राजा उनका सहायक था। उधर मौर्य्योंके सहायक वेडुगर अर्थात् तेलगु लोग थे। तामिलोंसे पहला मोरचा वडुगर लोगोंने ही लिया था परन्तु तामिलोंसे वे बुरी तरह हारे थे। इसपर स्वयं मौर्य्य सम्राट् रणांगणमें उपस्थित हुये थे और घमासान युद्ध हुआ था; किन्तु वेङ्कट पर्वतने मौर्य्योंको आगे नहीं बढ़ने दिया था। फिर भी यह स्पष्ट है कि मौर्य्य मैसूर तक पहुंच गये थे। साथ ही विद्वानोंका अनुमान है कि दक्षिण भारतपर यह आक्रमण सम्राट् बिन्दुसार द्वारा हुआ था। क्योंकि अशोकके

१–होसाबिल मे २६६ का शिलालेख जो १४ वीं शताब्दिका है। मद्र पृष्ठ १ एपि मा ९ पृष्ठ ९९। २–जमीसो, भाग १८ पृष्ठ १५८–१६९। ३–जमीसो, भाग २२ पृष्ठ ९ ९।

केवल एक कलिङ्गका युद्ध लड़ा था परन्तु उसके शासन लेख मैसूर तक मिलते हैं। इस प्रकार मौर्योंका शासन दक्षिण भारतमें मैसूर प्रान्त तक विस्तृत था।

सम्राट् अशोक।

सम्राट् अशोकके धर्मशासन लेख मैसूरके अति निकट मिले हैं। ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जटिङ्ग, रामेश्वर पर्वत, कोप्पल और येरुन्गुडी नामक स्थानोंसे उपलब्ध अशोक लेख वहांतक मौर्यशासनके विस्तारके द्योतक हैं। किन्तु 'ब्रह्मगिरि' के धर्म लेखमें सम्राट् माता-पिता और गुरुकी सेवा करनेपर जोर देते हैं, यह एक खास बात है।[1] यह शायद इसलिये है कि यह धर्मलेख मैसूरके उस स्थानसे निकट अवस्थित है, जहांपर अशोकके पितामह सम्राट् चन्द्रगुप्तने आकर तपस्या की थी। श्रवणबेलगोलसे ही चंद्रगुप्तने स्वर्गारोहण किया था।

अशोकने अपने पितामहके पवित्र समाधिस्थानकी वन्दना की थी।[2] मालूम होता है, इसीलिये उन्होंने ब्रह्मगिरिके धर्मलेखमें खास तौरपर गुरु और माता पिताकी सेवा करनेकी शिक्षाका समावेश किया था। प्रो० एस० आर० शर्म्मा यह प्रगट करते हैं।[3] और यह हम पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि बौद्ध होनेसे पहले अशोक जैनी था और अपने शेष जीवनमें भी उसपर जैन धर्मका काफी प्रभाव रहा था। अशोकने जैनोंका उल्लेख निर्ग्रन्थ और श्रमण नामसे किया था।

---

[1] अम० पृष्ठ ९४-९६। [2] संजैइ०, भा० २ खण्ड १ पृष्ठ २२९-२७०। [3] जैसइं०, अध्याय २।

किन्तु मौर्य सम्राटोंमें चन्द्रगुप्तका ही सम्बन्ध दक्षिण भारतसे विशेष और महत्वशाली रहा है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त। एक शासकके रूपमें ही यह सम्राट् दक्षिण भारतीयोंके परिचयमें आये हों केवल इतना ही नहीं बल्कि वह उनके बीचमें एक पूज्य साधुके भेषमें विचरे थे। जैन शास्त्रों और शिलालेखोंसे प्रगट है[1] कि जिस समय सम्राट् चन्द्रगुप्त भारतका शासन कर रहे थे उस समय उत्तर भारतमें एक भयंकर दुष्काल पड़ा जिसके कारण लोग त्राहि त्राहि करने लगे। इस समय जैन संघका प्रधान केन्द्र मगध था और श्रुतकेवली भद्रबाहु और आचार्य स्थूलभद्र संघके नेता थे। भद्रबाहु स्वामीने इस दुष्कालका होना अपने दिव्यज्ञानसे जानकर पहले ही घोषित कर दिया था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त इन आचार्योंके शिष्य थे। उन्होंने जब गुरु भद्रबाहुजीके मुखसे दुष्कालका समाचार सुने तो उन्होंने अपने पुत्रका राजतिलक कर दिया और स्वयं मुनिदीक्षा लेकर श्रुतकेवलीके साथ हो लिये। भद्रबाहुस्वामी संघको लेकर दक्षिण भारतकी ओर चले गये। मैसूर प्रांतमें श्रवणबेलगोलके निकट कटवप्र पर्वतपर वह ठहर गये और संघको आगे चोलदेशमें जानेके लिये आदेश दिया। मुनि चन्द्रगुप्त उनकी वैयावृत्तिके लिये उनके साथ रह गये।

यहीं तपश्चरण करते हुए भद्रबाहुस्वामी स्वर्गवासी हुए थे

१–संजैइ०, भा० १ खं० १ पृ० २ ३–११८, मद ३ –११ जैशिसं० भूमिका।

और चन्द्रगुप्त मुनिने भी वहींसे समाधिमरण द्वारा स्वर्गलाभ किया था। उत्तर भारतसे जैन संघके दक्षिण आगमनकी इस बातके पोषक दक्षिण भारतके वे स्थान भी हैं जहां आज भी बताया जाता है कि इस संघके मुनिगण ठहरे थे। अर्काट जिलेका तिरुमलय नामक स्थान इस बातके लिये प्रसिद्ध है कि वहां भद्रबाहुजीके संघवाले मुनियोंमेंसे आठ हजार ठहरे थे।

वहाँ पर्वत पर डेढ़ फुट लम्बे चरणचिह्न उसकी प्राचीनताके द्योतक हैं।[1] इसी प्रकार हस्सन जिलेके हेमवृतनगर (जो हेमवती नदीके तटपर स्थित था।) के विषयमें कहा जाता है कि वहाँ श्रुतकेवली भद्रबाहुजीके संघके मुनि उत्तर भारतसे आकर ठहरे थे।[2] उधर तामिल भाषाके प्रसिद्ध नीतिकाव्य 'नालाडियार' की रचना विषयक कथासे स्पष्ट है[3] कि उत्तर भारतसे दुर्भिक्षके कारण पीड़ित हुये आठ हजार मुनिगण पाण्ड्यदेश तक पहुचे थे। पाण्ड्यनरेश उग्रपेरुवलीने उनका स्वागत किया था।

पाण्ड्यनरेश उनकी विद्वत्तापर ऐसा मुग्ध हुआ कि वह उनसे अलग नहीं होना चाहता था। हठात् मुनियोंने अपनी धर्मरक्षाके लिये चुपचाप वहांसे प्रस्थान कर दिया, परन्तु चलनेके पहले उन्होंने एक एक पद्य रचकर अपने२ आसन पर छोड़ दिया। यही 'नालाडियार' काव्य बन गया। सारांशत इन उल्लेखों एवं अन्य शिला-

---

१–मप्रैप्राजैस्मा० पृष्ठ ७४। २–गैमैकु०, भा० २ पृष्ठ २९६। ३–जैहि० भाग १४ पृष्ठ ३३२ ज्ञात नहीं कि पाण्डव नरेशका समय क्या है ?

लेखादिसे सम्राट् चन्द्रगुप्तका मुनि होकर श्रुतकेवली भद्रबाहुजीके साथ दक्षिणभारतमें आना स्पष्ट है।

इन युक्तियोंके आगमनके कारण यहां पहलेसे प्रचलित जैन धर्मको विशेष प्रोत्साहन मिला प्रतीत होता है। किन्तु इसी समय उत्तरभारतमें अभाग्यवश जैन संघ मतभेदका शिकार बन गया था; जिसके परिणामस्वरूप उसका एकधारारूप प्रवाह इधर उधर बह पड़ा था। श्वेताम्बर सम्प्रदायके पूर्वरूपमें अर्द्धफालक मान्यताके लोगोंका जन्म इसी समय होगया था और उपरांत वही विकसित होकर ईस्वी प्रथम शताब्दिमें स्पष्ट श्वेताम्बर संप्रदायके नामसे प्रख्यात होगया था। मूल जैन संघके अनुयायी निर्ग्रन्थ कालांतरमें 'दिगंबर' नामसे प्रसिद्ध होगये थे। यह सब बातें हम पहले ही लिख चुके हैं।[1]

चाणक्य।

सम्राट् चन्द्रगुप्तके प्रसिद्ध मंत्री चाणक्यके विषयमें भी कहा जाता है कि वह जैन धर्मानुयायी थे और अपने अन्तिम जीवनमें वह जैन साधु हो गये थे। आखिर वह आचार्य हुये थे और अपने पांचसौ शिष्यों सहित देश-विदेशमें विहार करके वह दक्षिण भारतके वनवास नामक देशमें स्थित क्रौंचपुरमें आ विराजे थे। यहीं उन्होंने प्रायोपगमन सन्यास किया था।[2] एक अनुश्रुति चाणक्यको 'शुक्रतीर्थ' में एकान्तवास करते बताती है। संभव है कि यह 'शुक्रतीर्थ' जैनोंका [illegible] या '[illegible]' तीर्थ

१–सं॰जै॰इ॰ भाग २ खण्ड १ पृष्ठ २०३–२१७।

२–पूर्व पुस्तक पृष्ठ २१९–२२२।

हो।[1] इन्हीं बातोंको देखते हुये विद्वज्जन जैन मान्यताको विश्वसनीय प्रगट करते हैं।[2]

सम्राट् सम्प्रति।

चन्द्रगुप्तके समान ही उसका पोता सम्प्रति भी जैन धर्मका अनन्य भक्त था। वह धर्मवीर होनेके साथ ही रणवीर भी था। कहते हैं कि उसने अफगानिस्तानके आगे तुर्क, ईरान आदि देशोंको भी विजय किया था। इन देशोंमें सम्प्रतिने जैन विहार बनवाये थे और जैन साधुओंको वहां भेजकर जनतामें जैन धर्मका प्रचार कराया था। विदेशोंके अतिरिक्त भारतमें भी सम्प्रतिने धर्मप्रभावनाके अनेक कार्य किये थे। उन्होंने दक्षिण भारतमें भी अपने धर्मप्रचारक भेजे थे।[3]

किन्तु सम्प्रतिके बाद मौर्य्यवंशमें कोई भी योग्य शासक नहीं हुआ। परिणाम स्वरूप मौर्य्य साम्राज्य छिन्नभिन्न होगया और दक्षिण भारतके राज्य भी स्वाधीन होगये। अशोकके एक धर्म-

---

१–जैसइं० पृष्ठ ९।

२–"This co-incidence, if it were merely accidental, is certainly significant Apart from minor details, this confirms the opinion of Rhys Devids that 'the linguistic and epigraphical evidence so far available confirms in many respects the general reliability of the traditions current among the Jains "—

—Prof. S R Sharma, M. A.

३–संजैइं० भा० २ खण्ड १ पृष्ठ २९३–२९९।

इससे यह स्पष्ट है कि दक्षिणके चार पांच प्रमुख राज्य पहलेसे ही स्वाधीन थे और मौर्य्योंके बाद आन्ध्रवंशी बलवान होगए।

आन्ध्र-साम्राज्य।

दक्षिण भारतके दो भाग।

नर्मदा और विन्ध्याचलके उपरान्त दक्षिण दिशाके सब ही प्रान्त 'दक्षिणापथ'के नामसे प्रसिद्ध थे।[1] परन्तु राजनैतिक दृष्टिसे उसके दो भाग हो जाते हैं। पहले भागमें वह प्रदेश आता है जो उत्तरमें नर्मदा तथा दक्षिणमें कृष्णा और तुङ्गभद्राके बीच है। और दूसरे भागमें वह त्रिकोणाकार भूभाग आता है जो कृष्णा और तुङ्गभद्रा नदियोंसे आरम्भ होकर कुमारी अन्तरीपतक जाता है। यही वास्तवमें तामिल अथवा द्राविड़ देश है। इन दोनों भागोंकी अपेक्षा इनका इतिहास भी अलग-अलग होजाता है। तदनुसार यहां हम मौर्योंके बाद पहले भाग पर अधिकारी आन्ध्रवंशक राजाओंका परिचय लिखते हैं।

आन्ध्र राजा।

अशोकके उपरान्त आन्ध्रवंशक राजा स्वाधीन होगए थे। यह लोग शातवाहन अथवा शालिवाहनके नामसे भी प्रसिद्ध थे।[2] और इनके राज्यका आरम्भ ईसी पूर्व २ के लगभग हुआ था। चंद्रगुप्तके समयमें तीस बड़े बड़े प्राचीरवाले

---

[1] १-जैन., पृ १६१ यूनानियोंने इसे 'दक्षिणाबेद' (Dakhinabades) कहा था। [2] २-मैसू., पृष्ठ १५। [3] ३-कामता., पृ १९६।

नगर आन्ध्र राज्यके अतर्गत थे। आन्ध्रोंकी सेनामें एक लाख प्यादे, दो हजार सवार और एक हजार हाथी थे। यूनानी लेखकोंने इन्हें एक बलवान शासक लिखा है। अशोकके मरते ही इन्होंने अपने राज्यको बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया और सन् २४० या २३० ई० पूर्वके लगभग पश्चिमी घाट पर गोदावरीके उद्भवके समीर नासिक-नगर उनके राज्यमें सम्मिलित होगया। धीरे-धीरे सारे दक्षिण प्रदेश पर समुद्रसे समुद्र पर्यन्त उनका राज्य होगया।[1] कहते हैं, मगधको भी आन्ध्रोंने, खारवेलके साथ जीत लिया था।[2] कलिङ्गके जैन सम्राट् खारवेलने आन्ध्र सम्राट् शातकर्णीको परास्त किया था।[3]

इसीसे अनुमानित है कि मगधविजयमें वह खारवेलके साथ रहे थे। उनके समयमें पश्चिमकी ओरसे शक-छत्रपोंके आक्रमण भारत पर होते थे। आन्ध्रोंने उनसे बचनेके लिये अपनी राजधानी महाराष्ट्रके हृदय प्रतिष्ठान (पैठन)में स्थापित की थी। इनका पहला राजा सिमुक या सिन्धुक नामक था। इनका सारा राजत्वकाल करीब ४६० वर्ष बताया जाता है, जिसमें इनके तीस राजाओंने राज्य किया था।[4]

गौतमीपुत्र शातकर्णि।

इस वंशके राजाओंमें गौतमी पुत्र शातकर्णि नामक राजा प्रख्यात था। नासिकके एक शिलालेखमें उसे 'राजाधिराज' और अशिक, अश्मक मूलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ और अकरावन्ती नामक देशों पर शासन करते लिखा

१–जैब०, पृ० १५४–१७२। २–कुऐइ०, पृ० १९। ३–जबिओसो०, भा० ३ पृ० ४४२। ४–लाभाइ०, पृ० १९१।

है। अनेक राजा-महाराजा उसकी सेवा करते और आज्ञा मानते थे। वह शरणागतोंकी रक्षा करता और प्रजाके सुख-दुखको अपना सुख दुख समझता था। वह विद्वान सज्जनोंका आश्रय, महान आचार चारित्रका भंडार विद्यामें अद्वितीय और एक ही धनुर्धर वीर था।

उसने शक यवन और पल्हवोंकी संयुक्त सेनाको परास्त करके भारतको महान संकटसे मुक्त किया था।[1] इसी कारण वह 'विक्रमादित्य'के नामसे प्रसिद्ध हुआ था। उसका राज्यकाल ई० पूर्व १ ४४ बताया जाता है। आरम्भमें उसने ब्राह्मणोंके धर्मका पालन किया था परन्तु अपने अंतिम जीवनमें वह एक जैन गृहस्थ होगया था। शकविक्रमकी स्मृतिमें उसका एक संवत् भी आरम्भ हुआ था जो आज तक प्रचलित है।[2]

गौतमीपुत्रके अतिरिक्त इस वंशके राजाओंमें हाल और कुन्तलशातकर्णि भी उल्लेखनीय हैं। हाल अपनी साहित्यिक रचनाओंके लिए प्रसिद्ध हैं और कुन्तलने सन् ७८ ई० में पुन शकोंको हराकर आंध्रसाम्राज्यको स्वाधीन बनाया था। शालिवाहन शक इसी घटनाकी स्मृतिमें प्रचलित हुआ था।

व्यापार।

आंध्रकालमें देश समृद्धिशाली हुआ था। लोगोंमें उत्साह और साहसका संचार हुआ था जिससे उन्होंने जीवनके प्रत्येक

---

[1] वही पृष्ठ ४९। [2] विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णिका विवेचनात्मक वर्णन 'संक्षिप्त जैन इतिहास' भाग २ खंड १ पृ०–६१–९९ में देखना चाहिए।

अंगको उन्नत बनाया था। वणिज–व्यापार खूब ही वृद्धिको पहुंचा था। पश्चिमसे जहाज आकर भृगुकच्छके बन्दरगाहपर ठहरा करते थे। पैठनसे एक खास तरहका पत्थर और तगरपुर (तेरापुर) से मजलैन साटनें, मारकीन आदि कपड़ा एवं अन्य वस्तुयें भृगुकच्छ गाड़ियोंमें ले जाई जाती थीं और वहांसे जहाजोंमें लदकर पश्चिमके देशों यूनान आदिको चली जाती थीं। सोपारा, कल्याण, सेमुल्ल इत्यादि नगर व्यापारकी मण्डियां थीं। लोगोंके लिये आने जानेकी काफी सुविधा और उनकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध था। भारतीय व्यापारी निश्चिंत होकर देश विदेशसे व्यापार करके समृद्धिको प्राप्त हो रहे थे।

साहित्य।

वाणिज्यके अनुरूप ही साहित्यकी भी आन्ध्रकालमें अच्छी उन्नति हुई थी। आन्ध्रवंशके अनेक राजा साहित्यरसिक थे और उनमेंसे किन्हींने स्वयं ही रचनायें भी रचीं थी। सम्राट् हालकी 'गाथा सप्तशती' प्रसिद्ध ही है। परन्तु यह बात नहीं है कि आन्ध्रकालमें केवल प्राकृत भाषाकी ही उन्नति हुई हो, बल्कि संस्कृत भाषाको भी इस समय प्रोत्साहन मिला था। प्राकृत भाषाका प्रमुख ग्रन्थ 'बृहत्कथा' था, जो महाकवि गुणाढ्यकी रचना थी।[२]

कहा जाता है कि गुणाढ्यने कारणभूति नामक आचार्यसे जानकर कथासाहित्यका यह अद्वितीय ग्रन्थ रचकर सालिवाहन राजाको भेंट किया था। यह कारणभूति एक जैनाचार्य प्रगट होते हैं।[३] उधर

१–मगै० पृष्ठ १७४–१७६। २–मगै० पृष्ठ १७०–१७१।
र'का 'कहानी-अङ्क' देखो।

संस्कृत भाषाका अपूर्व व्याकरण 'कातन्त्र' भी एक शालिवाहन राजाके लिए रचा गया था। कहते हैं कि यह भी एक जैनाचार्यकी कृति थी। जैन विद्यालयोंमें इसका पठनपाठन आज भी होता है।

धर्म।

आन्ध्रोंमें वैदिकधर्मके साथ-साथ बौद्धधर्म और जैनधर्मका भी प्रचार था। सामाजिक संस्थामें प्रायः सुदूर दक्षिण देश जैसी ही थी।[1] कालकाचार्यके कथानकसे प्रगट है कि पैठणके राजाके वह गुरु थे। जैन मुनियों और आर्यिकाओंका आवागमन राजप्रासादमें भी था। राजा और प्रजाको जैन गुरु धर्मकी शान्ति और सुखकर शिक्षा दिया करते थे। उनका धर्मोपदेश बहुदर्शक ही भी था। यही वजह है कि गौतमीपुत्र और हालके विषयमें अनुमान किया जाता है कि वे जैनधर्मानुयायी होगये थे। आन्ध्रदेश स्तूपों धर्मों और उपासनालयोंसे परिपूर्ण था। पश्चिमीय जैनोंका ध्यान इस देशके सौन्दर्यकी ओर आकृष्ट हुआ। उनके संघ वहाँ पहुँचे और अपनी-अपनी 'पल्लि' स्थापित करके बस गये।[2] सारा देश जैन मंदिरोंसे अलंकृत और जैन मुनियोंके धर्मोपदेशसे पवित्र हो गया।

१- The Andhra or Satavahana rule is characterised by almost the same social features as the further south but in point of religion they seem to have been great patrons of the Jains and Buddhists. –S Krishnaswami Aiyangor in the *Ancient India, page 34.*

सुदूर दक्षिणके राज्य।

(द्राविड़–राज्य)

द्राविड़ राज्योंकी सीमायें।

गोदावरी और फिर कृष्णा एव तुङ्गभद्रासे परे दक्षिण दिशामें जो भी प्रदेश था वह तामिल अथवा द्राविड़ नामसे परिचयमें आता था। यह द्राविड़ अथवा तामिलदेश तीन भागों अर्थात् चेर, चोल और पाण्ड्य मण्डलोंमें विभक्त था। पाण्ड्यमंडल 'पण्डि नाडु' नामसे विख्यात् था और वह वर्तमानके मदुरा जिला जितना था।[1] अशोकके समयमें पाड्य राज्यमें मदुरा और तिनावलीके जिले गर्भित थे।[2] मदुरा उसकी राजधानी थी, जो एक समय समृद्धिशाली बहुजनाकीर्ण और परकोटेसे वेष्टित नगर[4] था। पाड्योंका दूसरा प्रमुख नगर कोर्कै (Korkai) था।

चोलमडलका दूसरा नाम 'पुनलनाडु' था और उरैयुर (उरगपु') उसकी राजधानी थी, जो वर्तमानके ट्रिचनापली नगरके सन्निकट अवस्थित थी।[3] चोल राज्यका विस्तार कोरोमण्डल जितना था। पुकर अर्थात् कावेरीप्पम्पट्टनम् चोलोंका प्रधान बन्दरगाह था। प्राचीनकालमें चेरमण्डलका विस्तार मैसूर, कोइम्बटोर, सलेम, दक्षिण मालावार, ट्रावनकोर और कोचीन जितना था। इसकी राजधानी करूर अथवा

---

[1] जमीसो०, भा० १८ पृष्ठ २१३। [2] लाभाइ० पृ० २८६।
[3] जमीसो०, भा० १८ पृ० २१३। [4] लाभाइ० पृ० २८६।

कांचि थी और पाण्ड्यदेश इससे पश्चिममें था। यह तीन राज्य ही दक्षिण भारतमें प्रमुख थे।

शिलालेख और द्राविड़ राज्य।

दक्षिणके इन तीनों राज्योंका उल्लेख सम्राट् अशोकके धर्म लेखमें हुआ है।[1] और सम्राट् खारवेलके शिलालेखमें भी इनका उल्लेख मिलता है।[2] परन्तु साहित्यमें इन तीनों राज्योंका अस्तित्व एक अति प्राचीनकालसे सिद्ध होता है। कात्यायन-वार्तिक में पाण्ड्य चोड़ आदिका उल्लेख है।[3] पतञ्जलिने इसी प्रकार माहिष्मती वैदर्भ काञ्चीपुर और केरल का उल्लेख किया है।[4] महाभारत (सभापर्व ११८) में द्राविड़ देशकी उत्तरीय सीमामें गोदावरी नदीका उल्लेख है। यूनानी लेखकों टोल्मी आदिने भी इन देशोंका उल्लेख किया है।

जैन साहित्यमें द्राविड़ राज्य।

उधर जैन साहित्यसे भी चेर चोल और पाण्ड्य राज्योंका प्राचीन अस्तित्व प्रमाणित है। महाराज कम्पाक पुत्र जब गार सिंहसे होता था उस समय द्राविड़ देशके राजा भी उनके पक्षमें थे।[6] मालूम होता है कि पल्लवोंके दक्षिण मथुरामें राज्य स्थापित करनेके कारण इन राज्योंका सम्पर्क उत्तर भारतीय राज्योंसे अनिश्चितकाल [illegible] होगया था। चेर चोल-

---

१–कम पृष्ठ २९३। २–जम पृष्ठ ११३–११९। ३–अमितोसो भा ३ पृ ४४९। ४–कम पृ १३८। ५–महाभाष्य, १ १, १९। ६–कम पृ [illegible]१४२। ७–हरि पृ ४६८।

पाण्ड्य, इन द्रविड़ राज्योंका युधिष्ठरादि पाण्डवोंसे गहरा सम्बन्ध था। विदित होता है कि जिस समय पल्लवदेशमें विराजमान भगवान् अरिष्टनेमिके निकट पाण्डवोंने जिनदीक्षा ली थी, उसी समय इन द्रविड़ राजाओंने भी मुनिव्रत धारण किया था। पाण्डवोंके साथ तप तपकर वह भी शत्रुंजयगिरिसे मुक्त हुये थे।[1]

भगवान् अरिष्टनेमिके तीर्थमें ही कामदेव नागकुमार हुये थे। नागकुमारका मित्र मथुराका राजकुमार महाव्याल था। यह महाव्याल पाण्ड्यदेश गया था और पाण्ड्य राजकुमारीको व्याह लाया था।[2] इसके पश्चात् भ० पार्श्वनाथके तीर्थकालमें करकण्डु राजा हुये थे, जिन्होंने चेर, चोल और पाण्ड्य राजाओंको युद्धमें परास्त किया था। करकण्डुको यह जानकर हार्दिक दुःख हुआ था कि वे राजा जैनी थे। उन्होंने उनसे क्षमा चाही और उनका राज्य उन्हें देना चाहा, परन्तु वे अपने पुत्रोंको राज्याधिकारी बनाकर स्वयं जैन मुनि होगये थे।[3]

इन उल्लेखोंसे चेर, चोल, पाण्ड्य राज्योंका प्राचीन अस्तित्व ही नहीं बल्कि उनके राजाओंका जैनधर्मानुयायी होना भी स्पष्ट है। दक्षिणाभारतमें अरुन्तर पर्वत, ऐवर मलै, तिरुमूर्ति पर्वत इत्यादि

---

[1] पंडुसुआ तिण्णि जणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडिओ।
सेतुंजय गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥”

[2] ‘गंभीरविजयदुंदुहिणिणाउ–दहिणमहुराहिउ पहिराउ’
—णायकुमारचरिउ ८।२

[3] कच० पृष्ठ ७९–८०।

स्थान ऐसे हैं जिनसे प्रगट होता है कि यहां पाण्डवादि प्राचीन महापुरुष पहुंचे थे।[1]

पाण्ड्य राज्य।

दक्षिणके इन तीनों राज्योंमें पाण्ड्य राज्य प्रधान था। राज्यकी अपेक्षा ही नहीं बल्कि सभ्यता और संस्कृतिके कारण पाण्ड्यदेशको ही प्रमुख स्थान प्राप्त है। उनका एक दीर्घ-कालीन राज्य था और उसमें उन्होंने देशको खूब ही समृद्धिशाली बनाया था।[2] पाण्ड्यराज्य अति प्राचीन कालसे रोमवालोंके साथ व्यापार करता था। कहा जाता है कि पांड्यराजाने सन् २५ ई० पू० में अगस्टस सीजरके दरबारमें दूत भेजे थे। दूतों लोगोंके साथ एक श्रमणाचार्य भी यूनान गये थे।[3] यूनानमें भारतीय कपड़ेकी बहुत खपत थी।

रोमन ग्रंथकार पीटर बीनसको इस बातका सन्देह था कि यूनानी रमणियां भारतीय परिधान पहनकर निर्लज्जताकी दोषी होती हैं। वह भारतकी मलमलको 'बुनी हुई पवन' के नामसे पुकारता है। प्लिनी एवं अन्य यूनानी लेखकोंने लिखा है कि मूल्यवान पत्थरों तथा विलासिताकी वस्तुओंके मूल्यमें यूनानसे भारत चला जाता है। उस समय रुई, ऊन और रेशमके कपड़े बनते थे। उनके कपड़ोंमें सबसे बढ़िया चूहोंकी ऊन गिनी जाती थी। रेशमके कपड़े तीन प्रकारके थे।[4] सारांश यह कि पांड्य राज्यकालमें यहां शिक्षा, कला और विज्ञानकी खूब उन्नति हुई थी।

१-अहिंसो० भा० २९ पृष्ठ ८८-८९। २-अहिंसो० भा० १८ पृ० २११। ३-इंडिया, भा० [illegible] १९२१। ४-कामाट. पृष्ठ २८०-२८८

पाण्ड्य विजय।

पाण्ड्य राजके समयमें अर्थात् ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दिमें पाण्ड्य देशमें पानीका सीलाव आया था, जिसमें कुमारी और पहरूलि नामक नदियोंका मध्यवर्ती प्रदेश जलमग्न होगया था। अपनी इस क्षतिकी पूर्ति पाण्ड्य राजने चोल चेर राजाओंके कुन्डुर और मुत्तुर नामक जिलोंपर अधिकार जमाकर की थी। इस विजयके कारण यह पाण्ड्यराज नीलन्तरु तिरुवीर पाण्ड्यन् कहलाये थे। इन्हींके समयमें द्वितीय 'संगम् साहित्य परिषद' हुई थी।[1]

बारुकुरुके पाण्ड्य।

पाण्ड्यवंशकी इस मूल शाखाके अतिरिक्त दो अन्य शाखाओंका भी पता चलता है। ईस्वी प्रथम शताब्दिमें मधुरा पाण्ड्यवंशके एक देव पाण्ड्य नामक राजकुमार तौलव देशान्तर्गत बारुकुरुमें आ बसे थे। और वहीं किसी जैनीकी कन्यासे उनका व्याह हुआ था। कालान्तरमें वह बारुकुरुको राजधानी बनाकर शासनाधिकारी हुये थे। इनके उत्तराधिकारी इनके भानजे भूताल पाण्ड्य थे जो कदम्ब सम्राट्के आधीन राज्य करते थे। इसी समयसे पाण्ड्य देशमें निज पुत्रके स्थानपर भानजेको उत्तराधिकारी होनेका नियम प्रचलित हुआ था। भूतालके पश्चात् क्रमश विद्युम्न पाण्ड्य (सन् १४८ ई०), वीर पाण्ड्य (सन् २६२ ई० तक), चित्रवीर्य पाण्ड्य (सन् २८१ ई०) देववीर पाण्ड्य

---

[1]–साइजै०, भा० १ पृष्ठ ३८–३९।

(सन् २९० ई०), भवीर पाण्ड्य (सन् ११६ ई०) और भवीर पाण्ड्य (सन् १३२ ई०) ने राज्य किया था। इससे आगे इस पाण्ड्यवंशका पता नहीं चलता।[1]

कारकलके पाण्ड्य। पाण्ड्यवंशकी एक दूसरी शाखा कारकलमें राज्याधिकारी थी। जिस समय तौलव देशका शासन कापिदु हेग्गडे कर रहा था, उस समय प्रजा उसके दुःशासनके कारण ऊब गई थी। भाग्यवशात कारकलमें हुम्मचके शासक जिनदत्तरायके वंशज भैरव पाण्ड्य मूडबिद्री तीर्थकी यात्रा करके आ निकले। दुखी प्रजाने उनसे जाकर अपनी दुख गाथा कही। भैरव पाण्ड्यने हेग्गडेको बुलाकर समझाया परन्तु उसपर उनके समझानेका कुछ भी असर नहीं हुआ। लाचार उन्होंने हेग्गडेको युद्धमें परास्त करके उसके प्रदेशपर अधिकार जमाया। इनके उत्तराधिकारी कारकलमें आगे और निम्नलिखित शासकोंने वहां रहकर राज्यशासन किया था।

(१) पाण्ड्य देवरस या पाण्ड्य चक्रवर्ती (२) लोकनाथ देवरस (३) वीर पाण्ड्य देवरस (४) रामनाथ अरस (५) भैरस ओडेय (६) वीर पाण्ड्य भैरस ओडेय (७) अभिनव पाण्ड्यदेव, (८) हिरिय भैरसव ओडेय (९) इम्मडि भैरराय (१०) पांड्यप्प ओडेय, (११) इम्मडि भैरसराय (१२) रामनाथ और (१३) वीर पाण्ड्य।[2]

---

[1] १–जैसिभा० भा० १ किरण १ पृष्ठ ९१। [2] २–पूर्व पृष्ठ ९३।

धर्म्म।

पाण्ड्यराज्यमें उस समय धार्मिक सहिष्णुता भी प्रचुरमात्रामें विद्यमान थी। 'मणिमेखलै' नामक तामिल महाकाव्यमें एक स्थल पर एक नगरके वर्णनमें कहा गया है कि 'प्रत्येक धर्मालयका द्वार हर भक्तके लिये खुला रहना चाहिये। प्रत्येक धर्माचार्यको अपने सिद्धातोंका प्रचार और शास्त्रार्थ करने देना चाहिये। इस तरह नगरमें शाति और आनंद बढ़ने दीजिये।'[1] यही वजह थी कि उस समय ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों धर्म प्रचलित होरहे थे। लोगोंमें जैन मान्यतायें खूब घर किये हुये थीं, यह बात 'मणिमेखलै' और 'शीलप्पधिकारम्' नामक महाकाव्योंके पढ़नेसे स्पष्ट होजाती है। 'मणिमेखलै' में ब्राह्मणोंकी यज्ञशालाओं, जैनोंकी महान पल्लियों (hermitages), शैवोंके विश्रामों और बौद्धोंके सघारामोंका साथ-साथ वर्णन मिलता है।[2] यह भी इन काव्योंसे प्रगट है कि पाण्ड्य और चोल राजाओंने जैन और बौद्ध धर्मोंको अपनाया था। मथुरा जैन धर्मका मुख्य केन्द्र था।

'मणिमेखलै' का मुख्य पात्र कोवलन अपनी पत्नी सहित

---

[1] जैसाइ०, पृष्ठ २९। [2] बुस्ट०, पृष्ठ ३।

१–"It would appear that there was then perfect religious toleration, Jainism advancing so far as to be embraced by members of the royal family ...The epics give one the impression that there two (Jain & Buddhist) religions were patronised by the Chola aswell as by the Pandym Kings"—साइंजै० पृष्ठ ४६–४७।

जिस समय मथुराको जारहा था तो मार्गमें एक जैनीने उन्हें सावधान किया था कि वे वहां पहुंचकर किसी जीवको पीड़ा न पहुंचावें और न हिंसा करें क्योंकि वहां निर्ग्रन्थ (जैनी) इसे पाप बताते हैं। पुष्पनगरमें जब इन्द्रोत्सव हुआ तो राजाने सब ही सम्प्रदायोंको निमंत्रित किया। जैनी भी पहुंचे और अपना धर्मोपदेश दिया, जिसके फलस्वरूप अनेकानेक मनुष्य जैन धर्ममें दीक्षित हुये।

'दीव्यावदानम्' ग्रन्थसे प्रगट है[1] कि उसके मुख्य पात्र मथुराकी यात्रा करने गये थे। मथुरा उस समय तीर्थ समझा जाता था। वहां पासमें अनेक जैन गुफायें थीं जिनमें जैन मुनि तपस्या किया करते थे। आराधना कथाकोष से प्रगट है कि म० महावीरके उपरान्त यहांपर एक सुगुप्ताचार्य नामके महान् साधु हुये थे। मथुराकी यात्राको चलकर वे पात्र पहले जैन साधुओंकी एक 'पल्लि' में ठहरे थे। वहां जिनके समवसरणका चबूतरा था, जिसपरसे जैनाचार्य उपदेश दिया करते थे। उन्होंने उसकी परिक्रमा दे वन्दना की। वहांसे चलकर उन्हें कावेरी नदीके तटपर आर्यिकाओंका आश्रम मिला। देवन्नि आर्यिका मुख्य थी वह भी उनके साथ होली। जैन आर्यिकाओंका प्रभाव उस समय धार्मिक स्त्रीसमाजमें खूब था। आगे कावेरीके बीच टापूमें भी उन्होंने जैन साधुके दर्शन किये। सारांश यह कि उन्हें ठौर-ठौरपर जैन मुनियों और आर्यिकाओंके दर्शन होते थे। इससे वहां जैनधर्मका बहु प्रचलित होना स्पष्ट है।

१–[illegible] पृष्ठ ४७–४८। २–जैसाइं पृष्ठ २९। ३–आक।

चोल राज्य।

चोल प्रदेशका नाम चोलमण्डल था, जिसका अपभ्रंश कोरोमण्डल होगया। उसके उत्तरमें पेन्नार और दक्षिणमें वेल्लारु नदी थी। पश्चिममें यह राज्य कुर्गकी सीमातक पहुंचता था। अर्थात् इस राज्यमें मदरास, मैसूरका बहुतसा इलाका और पूर्वीसागर तटपर स्थित बहुतसे अन्य ब्रिटिश जिले मिले हुए थे। प्राचीनकालमें इस राज्यकी राजधानी उरईऊर (पुरानी तृचनापली) थी। और तब इसका पश्चिमके साथ बहुत विस्तृत व्यापार था। तामिल लोगोंके जहाज भारतमहासागर तथा बङ्गालकी खाड़ीमें दूर दूर तक जाते थे।

कावेरीप्पुमपट्टनम् इस देशका बडा बंदरगाह था। चोलराजाओंमें प्रमुख कारिकल नामका राजा था जिसने लङ्कापर आक्रमण किया था और कावेरीका बांध बांधा था। इस राजाकी नाम अपेक्षा एक जिनालय भी स्थापित किया गया था, जिससे इस राजाका जैनधर्मप्रेमी होना स्पष्ट है।[2]

चेर राज्य।

पाण्ड्य और चोल राज्योंके समान ही चेर अथवा केरल राज्य था। चेर राजाओंके इतिहासमें विशेष उलेखनीय बात यह है कि उनके राज्यकालमें देहातका शासन अधिकांशमें प्रजातन्त्र नियमोंपर चलाया जाता था, जिसका प्रभाव सारे राज्यपर पड़ा हुआ था। गावोंमें भिन्न भिन्न सभायें, प्रबन्ध और

१–लाभाइ० पृष्ठ २९१–२९२। २–साइंजै०, भा० २ पृष्ठ ३८।

निवास ग्रामकी अधिकारियोंका उपयोग करती थीं।[1] एक समय कोंगुनाड प्रदेश भी चेर राज्यके अन्तर्गत था, जिसमें वर्तमानका कोयम्बटूर जिला, सलेमका दक्षिण-पश्चिमी भाग त्रिचनापल्ली जिलेका करूर तालुक और मदुरा जिलेका पलनी तालुक शामिल था।

कवि मरुनविरिमालसने कोंगु देशपर चेर अधिकारका उल्लेख किया है। शिलालेखोंके शिलालेखोंमें कोक्कुन रवि और रवि कोदै नामक चेर राजाओंका उल्लेख है।[2] प्राचीनकालमें चेर राजा अति पराक्रमी थे और उनका सम्बन्ध उत्तर भारतके राजाओंसे था। सम्राट् श्रेणिकने एक चेरक राजाकी सहायता की थी, यह पहले लिखा जा चुका है। इनसे भी पहले हस्तिनापुरके कुरुराजके सहायकोंमें और धर्मरक्षक राजा थे।

धर्म।

चेर राज्यकालमें भी धार्मिक उदारता उल्लेखनीय थी। एक ही घरमें जैन और शैव साथ-साथ रहते थे। 'शीलप्पधिकारम्' काव्यके कर्ता चेर राजकुमार इलङ्गोवडिगल जैनी थे जबकि उनके भाई सेंगुट्टुवन एक शैव थे।[3] तो भी उस समय चेर देशके निवासियोंमें जैन धर्मका खूब ही प्रचार था। ईसकी पहली-दूसरी शताब्दियोंमें कोंगु देशके पहले तीन चेर राजाओंके

---

[1] १–कामाई, पृष्ठ २९१। [2] २–जमीसो भा २१ पृष्ठ १९–४।

[3] ३–'अडिगळ् तुम्मोदनयत्ताडिमार मारचनटयशीलपासमभार।
मलयोपरा कुंगु वेगादिष्टि गुणरपोतकाशरक्षसमि॥'
—शीलप्पधिकारम् सूरामा सम्मिच।

[4] ४–वाहेम, भा १ पृष्ठ ४६–४७।

गुरू जैनाचार्य थे, बल्कि पाचवी शताब्दि तक उस वशके राजा गुरू जैनी ही रहे । चेर राजा कुमार इलङ्गको आदिगलके पितामह एक महावीर थे । एक युद्धमें उनकी पीठमें घातक आघात पहुचा । उन्होंने अपना अन्त समय निकट जानकर सल्लेखना व्रत स्वीकार किया था[1] ।

राजकुमार इळन्गोवर्द्ध भी जैन मुनि हुये थे । कोंगु देशमें अनेक प्राचीन स्थान ऐसे हैं जिनसे प्राचीनकालमें जैन धर्मका बहु प्रचार स्पष्ट होता है । विजियमङ्गलम् नामक स्थानपर चन्द्रप्रभ तीर्थङ्करका एक जैन मदिर है । उसमें पाचों पाण्डवोंकी तथा भगवान् ऋषभदेवकी भी मूर्तिया हैं । मंदिरके पाचवें बडे कमरेमें पत्थरमें आदीश्वर भगवानकी जीवन घटनायें अङ्कित हैं ।[2]

इस प्रकार इन तीनों द्रविड राज्योंमें प्राचीनकालसे जैन धर्म प्रधान रहा था । इन राजवंशोंके राजत्वका क्रम यह था कि पहले चोळराज प्रधान थे, उनके बाद चेर राजाओंका प्राबल्य रहा । अन्तमें पाण्ड्यराज प्रमुख सत्ताधीश हुये । पाण्ड्योंके उपरान्त पल्लव, चालुक्यादिकी प्रधानता हुई थी, जिनका इतिहास आगे लिखा जायगा ।

व्यापार ।

द्राविड़ राजाओंके राजत्वकालमें तामिलदेशका व्यापार भी खूब उन्नतिपर रहा था । निस्सन्देह दक्षिणभारतका व्यापार तब एक ओर उत्तरभारतसे होता था तो दूसरी ओर योरुपके देशोंसे भी

१–जैसाइ०, पृष्ठ २९–३० व गैमेकु०, भा० १ पृष्ठ ३७० ।

२–जमीसो०, भा० २९ पृष्ठ ८७–९४ ।

यहांका व्यापार खूब चलता था। उर (Ur) जैसे प्राचीन नगरके ध्वंसावशेषोंमें सागुनकी लकड़ी मिली है जो समुद्रमार्गसे वहां पहुंची अनुमान की जाती है। सोना मोती हाथीदांत चावल मिर्च मोर बन्दर आदि वस्तुयें दक्षिणभारतकी उपज थीं जो प्राचीन जहाजोंमें भरकर बेबिलन मिस्र यूनान और रोमको भेजी जाती थीं। इस व्यापारका अस्तित्व ईसा पूर्व ७ वीं या ८ वीं शताब्दिसे भी पहलेका प्रमाणित होता है।

रोमन सिक्के तामिलनाडुसे उपलब्ध हुए हैं जिनसे तामिल देशमें पश्चिमात्य व्यापारियोंका अस्तित्व सिद्ध होता है। उन्हें लोग 'यवन' कहते थे और इन यवनोंका उल्लेख कई तामिल काव्योंमें है। तामिलराजागण इन विदेशियोंको अपनी फौजमें भरती करते थे और उनके आत्मरक्षक भी यह होते थे। कावेरीपुमपट्टनममें इन यवनोंका एक उपनिवेश था।[1]

संस्कृति।

तामिलोंका रहन-सहन और दैनिक जीवन सीधा-सादा था। उनकी पोशाक समाजमें व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और मर्यादाके अनुसार भिन्न भिन्न थी। मध्यमश्रेणीके लोग बहुधा दो वस्त्र धारण करते थे। एक वस्त्रको वे अपने सिरसे लपेट लेते थे और दूसरेको कमरसे बांध लेते थे। धनिकलोग मलमल पहनते थे। सरदार लोग मौसमके अनुकूल वस्त्र पहनते थे। लड़कोंकी शादी १६ वर्षकी उम्रमें और लड़कियोंकी १२ वर्षकी अवस्थामें होती थी। विवाहके लिये यही उम्र ठीक समझी जाती थी। कुछ व्यक्तियोंके वासस्थानोंपर

१–हिस्टारी पृष्ठ १५८। २–कमीशन भा १८ पृष्ठ २१३।

मंदिर और निषधि बनानेका भी रिवाज था। संग्राममें वीरगतिको प्राप्त हुये योद्धाओंकी स्मृतिस्वरूप 'वीरपाषाण' बनाये जाते थे जो 'वीरगल' कहलाते थे और उनपर लेख भी रहते थे।[1]

राजनैतिक प्रबंध।

तामिल जातियोंके राजनैतिक नियम भी आदर्श थे। राजाको राज्यप्रबन्धमें सहायता करने और ठीक-ठीक व्यवस्था करानेके लिये पांच प्रकारकी सभायें थीं अर्थात् (१) मन्त्रियोंकी सभा, (२) पुरोहितोंकी सभा, (३) सैनिक अधिकारियोंकी सभा, (४) राजदूतोंकी सभा और (५) गुप्तचरोंकी सभा। इन सभाओंमें कुछ सदस्य जनताके भी रहते थे। उसपर पण्डितों और सामान्य विद्वानोंको अधिकार था कि जिस समय चाहें अपनी सम्मति प्रगट करें।

उपरोक्त सभाओंमें पहली सभाका कार्य महकमे माल और दीवानीका प्रबन्ध करना था। दूसरी सभा सभी धार्मिक संस्कारोंको सम्पन्न करानेके लिये नियुक्त थी। तीसरी सभाका कर्तव्य जिसका नायक सेनापति होता था, सेनाकी समुचित व्यवस्था रखना था। शेष दो सभाओंके सदस्य राजाको संधि विग्रहादि विषयक परामर्श देते थे। गावोंके प्रबन्धके लिये 'गाव पचायतें' थीं। न्याय निःशुल्क दिया जाता था—आजकलकी तरह उसके लिये 'कोर्टफीस'में 'स्टाम्प' नहीं लगता था। दण्ड व्यवस्था कड़ी थी—इसी कारण अपराध भी कम होते थे।[2]

---

[1] जमीसो० भा० १८ पृष्ठ २१४। [2] हासाइ० पृष्ठ २८९ व जमीसो० भा० १८ पृष्ठ २१४–२१५।

साहित्य।

तामिल राजाओंके समयमें शिक्षाका खूब प्रचार था। स्त्रियां भी स्वतंत्रतापूर्वक विद्याध्ययन करती थीं। उनमें कई स्त्रियां अच्छी कवियित्री थीं। शिक्षा भी केवल उच्च वर्णके लोगों तक सीमित न थी। हरकोई अपनी बुद्धि—कौशलका प्रदर्शन कर सकता था। उच्च कोटिके साहित्यका निर्माण ठीक हो और साहित्य प्रगतिको प्रोत्साहन मिले, इसलिए एक 'संघम्' नामकी सभा स्थापित थी जिसमें बहुत विद्वान् और राजा रचनाओंकी समालोचना करके उन्हें मान्यता देते थे।

इस संघम्‌कालके लगभग पचास अनूठे तामिल ग्रंथ आजतक उपलब्ध हैं जो इतिहासके लिये महत्वकी चीज हैं।[1] जैनाचार्य भी इस 'संघम्' में भाग लेते थे और तामिलका प्रारम्भिक साहित्य अधिकांश जैनाचार्योंका रचा है। पाण्ड्य राजा पाण्डियन उग्र पेरुवलुदि ने इस संघम् सभामें उल्लेखनीय भाग लिया था। क्योंकि उनके तामिलका प्रसिद्ध काव्य 'कुरल' संघम्‌में उपस्थित किया गया था और स्वीकृत हुआ था। उस समय ४८ महाकवि विद्यमान थे। 'कुरल' जैनाचार्यकी रचना है, यह हम आगे प्रगट करेंगे। उस समय एक तामिल कवियित्री अव्वैय्यार नामक थी। उसने राजाकी प्रशंसामें एक सुंदर रचना रची थी।[2]

तामिल राज्यमें वैदिकधर्म और बौद्धधर्मके अतिरिक्त जैनधर्म

१—कामाइ पृष्ठ १८९–२९ व जमीसो भा १८ पृष्ठ २१९।

धर्म। भी एक प्राचीनकालसे प्रचलित था। सन् १२८ में वहां अलेक्जेन्ड्रियामें पन्टेनस नामक एक ईसाई पादरी आया था। उसने लिखा है कि वहां उसने श्रमण (जैन साधु), ब्राह्मण और बौद्ध गुरुओंको देखा था, जिनको भारतवासी खूब पूजते थे, क्योंकि उनका जीवन पवित्र था। उस समय जैनी अपने प्राचीन नाम ‘श्रमण’ नामसे ही प्रसिद्ध थे, यह बात संगम् ग्रंथों यथा मणिमेखलै, शीलप्पधिकारम् आदिके देखनेसे स्पष्ट होजाती है।

निस्सन्देह ‘श्रमण’ शब्दका प्रयोग पहले पहले जैनियोंने अपने साधुओंके लिये किया था। उपरान्त बौद्धोंने भी इस शब्दको ग्रहण कर लिया और उनके साधु ‘शाक्यपुत्रीय श्रमण’ नामसे प्रसिद्ध हुए थे।[२] दक्षिणभारतके साहित्य-ग्रन्थों और शिलालेखोंमें सर्वत्र श्रमण’ शब्दका प्रयोग जैनोंके लिये हुआ मिलता है। श्रमण और श्रमणोपासक लोगोंकी संख्या वहां प्राचीनकालमें अत्यधिक थी।

---

[१] बजैस्मा० पृष्ठ १४२।

[२] "The Jainas used the term ‘Sramana’ prior to the Buddhists is also conclusively proved by the fact that the latter styled themselves ‘Sakyaputtiya’ Sramanas as distinguished from the already existing Nigganth Sramanas"

—Buddist India p 143

दक्षिण भारतका जैन-संघ।

* * *

जैन-संघकी प्राचीनता और उसका स्वरूप।

जैनियोंमें संघ-परम्परा अति प्राचीन है। जैन शास्त्रोंसे पता चलता है कि आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके समयमें ही उसका जन्म होगया था। ऋषभदेवके संघमें मुनि आर्यिका श्रावक और श्राविका संमिलित थे। यह संघ विभिन्न गणोंमें विभाजित था यह बात इससे प्रमाणित है कि शास्त्रोंमें ऋषभदेवके[1] अनेक गणधरोंका उल्लेख है परन्तु उन गणोंमें परस्पर कोई धार्मिक भेद नहीं था। उनका पृथक् अस्तित्व केवल संघ व्यवस्थाकी सुविधाके लिये था। जैन संघकी यह व्यवस्था, मालूम होता है भगवान महावीरके समय तक अक्षुण्ण रूपसे चली आई थी, क्योंकि जैन एवं बौद्ध ग्रन्थोंसे यह प्रगट है कि भगवान महावीरका अपना

१–ऋषभदेवके ८४ गणधरोंका अस्तित्व सभी जैनी मानते हैं। देखो जैसं, भा० २ पृ० ८१। २–वसु .... प्रथम पृष्ठ ११३–१२१। ३–बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय में भ० महावीरके विषयमें एक उल्लेख निम्नप्रकार है –

अयम् देव निगंठो नातपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचारियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधु सम्मतो बहुजनस्स रत्तञ्ञू चिरपब्बजितो अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो ॥ (भा० १ पृ० ४८–४९)।

इस उल्लेखमें निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (भ० महावीर) को संघका नेता और गणाचार्य लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि भ० महावीरका संघ था और उसमें गण भी थे।

संघ था जो कई गणोंमें विभक्त था। इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यार गणधर उन गणोंकी भार संभाल करते थे। किन्तु प्रश्न यह है इस प्राचीन संघका बाह्य भेष और क्रियायें क्या थीं? खेद है इस प्रश्नका पूर्ण और यथार्थ उत्तर देना एक प्रकारसे असम्भव है क्योंकि ऐसे कोई भी साधन उपलब्ध नहीं हैं जिनसे उस प्राची कालका प्रामाणिक और पूर्ण परिचय प्राप्त होसके। परन्तु तोभी स्वयं दिगम्बर एवं श्वेताम्बर[2] जैन शास्त्रों और ब्राह्मण एवं बौद्ध ग्रन्थों[4] तथा भारतीय पुरातत्वसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन—भगवा

१—महापुराण, उत्तरपुराण, तथा मूलाचारादि ग्रन्थ देखिये।

२—'कल्पसूत्र' में लिखा है कि भ० ऋषभदेव उपरान्त यथाजात-नग्नभेषमें रहे थे और यही बात भ० महावीरके विषयमें उस ग्रन्थमें लिखी हुई है।

३—'भागवत' में ऋषभदेवको दिगम्बर साधु लिखा है। (भम० पृष्ठ ३८) जाबालोपनिषद् आदि इतर उपनिषदोंमें 'यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ' साधुओंका उल्लेख है। (दिमु० पृ० ७८) ऋग्वेद (१०।१३६), वराहमिहिर संहिता (१५।६१) आदिमें भी जैन मुनियोंको नग्न लिखा है।

४—महावग्ग ८,१५,३। ६,३८,१६, चुल्लवग्ग ८,२८,३, संयुत्तनिकाय २,३,१०,७ जातकमाला (S B B I) पृ० १४, दिव्यावदान पृ० १६५, विशाखावत्थु-धम्म-पदट्ठ कथा (P T S, Vol I) भा० २ पृ० ३८४ इत्यादिमें जैन मुनियोंको नग्न लिखा है।

५—मोहनजोदरोके सर्व प्राचीन पुरातत्वमें श्री ऋषभदेव जैसी बैल चिन्हयुक्त खड्गासन नग्न मूर्तियां मुद्राओंपर अंकित हैं (भारि० अगस्त १९३२) मौर्यकालकी प्राचीन मूर्तियां नग्न ही हैं (जैसिभा० भा० ३ पृ० ११०)।

ते थे प्राचीन-जैन-संघके साधु नग्न-यथाजातरूपमें रहते व अनुद्दिष्ट भोजन दिनमें एकबार करते थे—निमंत्रण स्वीकार करते थे—धर्मोपकारमें तल्लीन रहते थे। बस्तीसे बहुत दूर निवास करते थे।[1] श्रावक और श्राविकायें उनकी भक्ति करना ते थे। इनमेंसे प्रमुख महापुरुषोंकी वे मूर्तियां और निषिधिकायें बनाकर उनकी भी पूजा किया करते थे। म० महावीरके संघके ही श्रमण श्वेत वस्त्र न पहना करते थे।[2] अभिप्रायतः प्राचीन जैन की यह रूपरेखा थी।

क्षिण भारतीय जैन संघ।

दक्षिण भारतमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा ही जैनधर्मका प्रचार होगया था। यह पहले लिखा जा चुका है। और चूंकि ऋषभदेव स्वयं दिगम्बर भेषमें रहे थे, इसलिये दक्षिण भारतीय जैन संघके साधुगण भी उन्हींकी थ भेषमें विचरते थे। दक्षिण भारतकी प्राचीन मूर्तियोंसे यही ट है कि उस समयके जैन साधुगण नग्न रहते थे। वे साधुगण ने प्राचीन नाम 'श्रमण' से प्रसिद्ध थे और जैन संघ 'निर्ग्रन्थ-' कहलाता था। तामिलके प्राचीन काव्योंसे स्पष्ट है कि उनके मयमें दिगम्बर जैन धर्म ही दक्षिण भारतमें प्रचलित था। द्वानोंका मत है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके गुरु श्रुतकेवली भद्र

---

[1] —मभनु पृ ३१—३९। [2] —मभनु पृ ९—११। —मजैस्मा पृष्ठ १९, ३१ ४२, ६१ ६९, ७३ व १७, क्षत्र० चित्र व चित्र देखो। ४—मार्जै० पृ ३७ व जैहाई पृ ४।

बाहुजीके साथ ही जैन धर्मका प्रवेश दक्षिण भारतमें हुआ, परन्तु जैन मान्यताके अनुसार दक्षिण भारतका जैन संघ उतना ही प्राचीन था, जितना कि उत्तर भारतका जैन संघ था। यही वजह थी कि उत्तरमें अकाल पड़ने पर धर्मरक्षाके भावसे भद्रबाहु स्वामी अपने संघको लेकर दक्षिण भारतको चले आये थे। उनका ही संघ ज्ञात रूपमें दक्षिणका पहला दिगम्बर जैन संघ प्रमाणित होता है। इसके पहले और कौन–कौन जैन संघ थे, इसका पता लगाना इस समय दुष्कर है। यह संघ मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चारों अङ्गोंमें बटा हुआ सुव्यवस्थित था। द्राविड़ लोगोंमें इसकी खूब ही मान्यता थी।[1] विद्वानोंका मत है कि द्राविड़ लोग प्राय नाग-जातिके वंशज थे। जिस समय नागराजाओंका शासनाधिकार दक्षिण भारतपर था, उस समय नागलोगोंके बहुतसे रीति-रिवाज और संस्कार द्राविड़ोंमें घर कर गये थे। नागपूजा उनमें बहु प्रचलित थी। जैन तीर्थंकरोंमें दो सुपार्श्व और पार्श्वकी मूर्तियां नागमूर्तियोंका

---

[1] "The fact that the Jaina community had a perfect organisation behind it shows that it was not only popular but that it had taken deep root in the soil The whole community, we learn from the epics, was divided into two sections, the **Sravakas** or laymen and the **Munis** or ascetics The privilege of entering the monastery was not denied to women and both men and women took vows of celibacy"

—SIJ P. 49

शासन भरी थी और जैनोंकी पूजाप्रणाली भी अति सरल थी। इसलिये उसको सहजमें ही अपना लिया था। जैनोंकी समाधि पूजा और निषिधि स्थापन प्रथाका भी इन लोगोंमें प्रसार हुआ था।¹ परिणाम स्वरूप इस प्राचीन कालमें जैनी उन्नत थे। वहां राज्यों शासकोंसे वहां आदर सम्मान्य और प्रतिष्ठित थे।

जैन संघकी रूपरेखा।

तामिल साहित्यग्रन्थोंसे तत्कालीन जैन संघकी क्रियाओंका ठीक परिचय मिलता है। उससे प्रगट है कि निर्ग्रन्थ साधुगण ग्रामों और नगरोंके बाहर बस्तियों या विहारोंमें रहते थे। ये विहार अहातेमें वृक्ष और बाग उससे घिरी हुई ऊंची दीवालोंसे घिरे थे। उनके आगे छोटे-छोटे बगीचे भी होते थे। उनके मन्दिर तिराहों और चौराहों पर बने होते थे। उनके आगे प्रेक्ष-धर्म बने हुये थे जिन परसे वह धर्मोपदेश दिया करते थे। उन विहारोंके साथ साथ ही आर्यिकाओंके विश्राम भी हुआ करते थे;* जिससे प्रगट है कि तामिल स्त्री समाजपर जैनी आर्यिकाओंका काफी प्रभाव था। चोलोंकी राजधानी कावेरीपुम्पट्टिनम्, तथा कावेरी तटपर स्थित उरइयूरमें उल्लेखनीय बस्तियां और विहार थे। मदुरा जैन संघका केन्द्र था²। वहां सन्निकट गुफाओंमें जैन

१–साइं० इं० ४८–५५ जैना० पृ १२८...। *–साधुओंके विहारों और आर्यिकाओंके विश्रामोंका उल्लेख शास्त्रोंमें भी है। (वृ० कल्प) २–साईं०, भा० १ पृ० ३०।

मुनियोंका आवासस्थान पता चलता है।[1] ये मुनिगण दिगम्बर मूर्तियोंकी वंदना करते थे, यह बात उन गुफाओंमें मिली हुई प्रतिमाओंसे स्पष्ट है। तामिल काव्योंमें प्रगट है कि तबके जैनी अर्हत् भगवानकी भव्य मूर्तियोंकी पूजा किया करते थे। यह मूर्ति अक्सर तीन छत्रोंसे और अशोक वृक्षसे सहित पद्मासन हुआ करती थी। वे जैनी दिगम्बर थे, यह उनके वर्णनसे स्पष्ट है तथा वे राज्यमान्य भी थे।[2]

जैन सिद्धांत।

"मणिमेखलै" काव्यमें जैन सिद्धांतके उस समय प्रचलित रूपका भी दिग्दर्शन होता है।[3] उसमें लिखा है कि "मनिमेखलाने निगंठ (निर्ग्रन्थ) से पूछा कि तुम्हारे देव कौन हैं और तुम्हारे धर्मशास्त्रोंमें क्या लिखा है? उसने यह भी पूछा कि लोकमें पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाश किस तरह होता है? उत्तरमें निगंठने बताया कि उनके देव इन्द्रोंद्वारा पूज्य हैं और उनके बताये हुये धर्मशास्त्रोंमें इन विषयोंका विवेचन है: धर्म, अधर्म, काल, आकाश, जीव, शाश्वत परमाणु, पुण्य, पाप, इनके द्वारा रचित कर्मबन्ध और इस कर्मबंधसे मुक्त होनेका मार्ग। पदार्थ अपने ही स्वभावसे अथवा पर पदार्थोंके संयोगवर्ती स्वभावानुसार अनित्य अथवा नित्य हैं। एक क्षणमात्रके समय

प्राप्त, अब प्रौढ़ होजाता है। इसे बालको और जीवोंके साथ मिलकर मिठाई बनाली गई परन्तु चनेका स्वभाव यहां नष्ट नहीं हुआ यद्यपि उसका रूप बदल गया। धर्मद्रव्य हर ठौर है और यह पदार्थ वस्तुके व्यवस्थित रीतिसे गमन चलानेमें कारण है। इसी तरह अधर्मद्रव्य प्रत्येक पदार्थको स्थिर रखनेमें कारण है और सर्व क्रियाको रोकता है। काल सब ही को सहायक भी है। आकाश सब पदार्थोंको स्थान देता है। जीव एक शरीरमें प्रवेश करके पांच इन्द्रियों द्वारा चखता, सूंघता, छूता, सुनता और देखता है। एक अणु शरीररूप अथवा अन्यरूप (अनेक परमाणुओंसे मिलकर) हो जाता है। पुण्य और पापमई कर्मोंके आस्रवको रोकना, संचित कर्मोंका परिणाम भुगत लेना और सर्व बन्धनोंसे मुक्त होजाना मोक्ष है।” जैनसिद्धान्तका यह रूप ठीक वैसा ही है जैसा कि आज यह मिलता है।

श्वेताम्बर जैनी।

निस्सन्देह, महाराजके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारतमें दिगम्बर जैनधर्म ही प्राचीनकालसे प्रचलित था और उसकी मान्यता भी जनसमुदायमें विशेष थी। किन्तु प्रश्न यह है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके जैनी दक्षिणभारतमें कब पहुंचे? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये जैन संघके इन दोनों सम्प्रदायोंका उत्पत्तिकाल हमें स्मरण रखना चाहिए। यह सर्वमान्य है कि जैनसंघमें भेदकी जड़ मौर्यकालमें ही पड़ गई थी। उत्तरभारतमें रहे हुये संघमें शिथिलाचार [illegible] गया था और [illegible]

पहनना भी आरम्भ कर दिया था। किन्तु जब प्राचीन भद्रबाहु संघके नग्न साधुगण उत्तरमें आये तो आपसमें संघर्ष उपस्थित हुआ। समझौतेके प्रयत्न हुये परन्तु समझौता न हुआ। दुष्कालमें शिथिलाचारको प्राप्त हुये साधुओंने अपनी मान्यताओंका पोषण करना प्रारम्भ कर दिया। शुरूमें इन्होंने एक खंडवस्त्र ही लज्जा निवारणके लिये धारण किया—वैसे वह रहे प्राचीन नग्नवेषमें ही।

मथुराके पुरातत्वमें कण्ह नामक एक मुनि अपने हाथपर एक खण्डवस्त्र लटकाये हुये नग्न भेषको स्तूपके एक आयागपटमें दर्शाये गये हैं।[1] धीरे धीरे जैसे समय बढ़ता गया यह मतभेद और भी दृढ़ होगया और आखिर ईस्वी पहली शताब्दिमें जैन संघमें दिगम्बर और श्वेताम्बर भेद बिल्कुल स्पष्ट होगये।[2] यही कारण है कि दक्षिण भारतके प्राचीन साहित्य और पुरातत्वमें हमें श्वेताम्बर सम्प्रदायका उल्लेख नहीं मिलता है। कहा जाता है कि मौर्य सम्राट् सम्प्रतिने दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रचार कराया था, परन्तु यह नहीं कहा जासक्ता कि उस धर्मका रूप क्या था? हमारे ख्यालसे वह वही होना चाहिये जो उपरोक्त तामिल काव्यमें चित्रित किया गया है। यदि वह धर्म तामिल काव्योंमे वर्णित धर्मसे भिन्न था, तो कहना होगा कि सम्प्रति द्वारा भेजे गये धर्मोपदेशकोंको दक्षिणमें सफलता नहीं मिली थी। श्वेताम्बरीय शास्त्रोंसे प्रगट है कि कालकाचार्य पैठनके राजाके गुरु थे, जिसका अर्थ यह होता है कि वह आन्ध्र देशतक पहुंचे

१–जै०स्तू० पृष्ठ २४–प्लेट नं० १७। २–सं०जै०इ०, भा० २ खंड २ पृ० ७५–७८।

थे। उपरांत ईसी छठी दूसरी शताब्दिमें श्वेताम्बरीय पावकिस्स वर्ग मान्येतुक प्रमुख थे; किन्तु यह नहीं कहा जासकता कि यह कब इस देशमें क्रमांतक उत्पन्न हुए थे। ईसी पांचवीं सदीके लिखे एक शासनमें बेलगाँवके पासके श्वेताम्बर जैन संघका उल्लेख मिलता है।[1] परन्तु इसके बाद फिर उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

श्रीधरसेनाचार्य और श्रुत-उद्धार।

श्री भद्रबाहु श्रुतकेवलीके अनुपस्थित संघके उपरांत शास्त्रोंमें दक्षिण भारतके उस दिगम्बर जैन-संघका पता चलता है जो श्रीधरसेनाचार्यके समयमें महिमा नगरीमें संघटित हुआ था। यह नगरी वर्तमान सतारा जिलेका 'महिमानगढ़' नामक गाँव प्रगट होता है। इस संघने आचार्य अर्हद्बलिके आदेशसे वेण्णातट नगरसे दो सकलश्रुत-ग्रहणधारी एवं तीक्ष्णबुद्धिके धारक मुनि पुंगवोंको श्रीधरसेनाचार्यजीके निकट श्रुत अध्ययनके लिये भेजा था। श्रीधरसेनाचार्य उस समय सौराष्ट्र प्रसिद्ध नगर गिरिनगरके निकट चंद्रगुफामें विराजमान थे। उपरोक्त दोनों शिष्योंके नाम उन्होंने क्रमशः भूतबलि और पुष्पदंत रक्खे थे और उन्होंने उनको महाकर्मप्रकृति-प्राभृत नामक ग्रन्थ भी पढ़ा दिया था। उपरांत श्रीधरसेनाचार्यजीने उन दोनों आचार्योंको विदा किया जिन्होंने अंकलेश्वर (भरोंच जिला) में आकर वर्षाकाल व्यतीत किया।

---

[1] जैहि० भा० १४ पृ० ११४।

वर्षायोगको समाप्त करके तथा जिनपालितको देखकर पुष्पदंताचार्य वनवास देशको चले गये और भूतबलिजी द्रामिल (द्राविड़) देशको प्रस्थान कर गये। इसके बाद पुष्पदंताचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस सूत्रों (विंशति प्ररूपणात्मक सूत्रों) की रचना कर और वे सूत्र जिनपालितको पढ़ाकर उसे भगवान भूतबलिके पास भेजा। उन्होंने जिनपालितपर उन बीस सूत्रोंको देखा और उसे अल्पायु जानकर श्रुतरक्षाके भावसे उन्होंने 'षट् खण्डागम' नामक ग्रंथकी रचना की।[1] इस समय श्री भूतबलि आचार्य संभवत: दक्षिण मथुरामें विराजमान थे।[2] 'इस तरह इस षट्खण्डागमश्रुतके मूल मंत्रकार श्री वर्द्धमान महावीर, अनुतंत्रकार गौतमस्वामी और उपतंत्रकार भूतबलि–पुष्पदन्तादि आचार्योंको समझना चाहिये।'

उन्होंने दक्षिण भारतके प्रधान नगरोंमें रहकर श्रुतज्ञानकी रक्षा की थी। दक्षिणमें ही श्री गुणधराचार्यने 'कसाय पाहुड' नामक ग्रन्थमहार्णवका सार खींच कर प्रवचन वात्सल्यका परिचय दिया था। ये सूत्रगाथायें आचार्य-परम्परासे चलकर आर्यमक्षु और नागहस्ती नामके आचार्योंको प्राप्त हुई थीं और उन दोनों आचार्योंसे उन गाथाओंका भले प्रकार अर्थ सुनकर यतिवृषभाचार्यने उन पर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की, जिनकी संख्या छह हजार श्लोक–परिमाण है।[3] उपरोक्त दोनों सूत्रग्रन्थोंको लेकर ही उन पर 'धवला' और 'जयधवला' नामक टीकायें रची गई थीं। इसप्रकार दक्षिण भार-

---

[1] जैसिभा०, ३ किरण ४ पृष्ठ १२७–१२८। [2] श्रुतावतार कथा, पृष्ठ २० व सजैइ० भा० २ खंड २ पृष्ठ ७२। [3] जैसिभा०, भा० ३ किरण ४ पृष्ठ १३१।

नके जैन संघ द्वारा धर्म प्रभावना संरक्षण और प्रवर्तन हुआ था। ये ग्रन्थ अबतक दक्षिण भारतके मूडबिद्री नामक स्थानमें सुरक्षित हैं; परन्तु अब उनका थोड़ा बहुत प्रचार उत्तर भारतमें भी होचला है।

संघ-भेद।

श्री इन्द्रनंदि कृत श्रुतावतार कथासे यह बात हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि इस घटनाके समय जैनसंघ नंदि, देव, सेन और (सिंह) और भद्र नामक उपसंघोंमें विभक्त होगया था। ये विभाग श्री अर्हद्बलि आचार्य द्वारा किये गये थे परन्तु इनमें कोई सिद्धांतभेद नहीं था। यह मात्र संघ व्यवस्थाकी सुविधाके लिये अर्हद्बलिने कायम किये प्रतीत होते हैं। शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेमें हुमच स्थानसे प्राप्त शक सं० ९९९ के लिखे हुये एक शिलालेख (नं० ३५) से भी स्पष्ट है कि भद्रबाहुस्वामीके बाद यहां कलिकालका प्रवेश हुआ था और उसी समय गणभेद उत्पन्न हुआ था।[२] अर्थात् जैनसंघ नंदि आदि उपसंघों या गणोंमें बँट गया था। यह इस समयकी एक विशेष घटना थी।

मूल संघ।

उपरान्त श्री भद्रबाहु स्वामीकी परम्परामें अनेकानेक लोक-मान्य, ज्ञान-विज्ञान पारगामी और धर्म-प्रभावक विद्वान् आचार्य हुये थे। उनमेंसे इस कालसे सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय आचार्योंका संक्षिप्त परिचय यहां पर दिया जाना अनुपयुक्त

१–जैहि०, भा० १ अंक १ पृष्ठ ७२–७३।

२– ...भद्रबाहुस्वामिभिरित्थंत्र कलिकालवर्तनेन गणभेदं
–मद्रा० मैसूर पृष्ठ १९६।

नहीं है। परन्तु साथ ही हमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि श्री अर्हद्बलि आचार्य द्वारा उपर्युक्त प्रकार उपसंघ स्थापना होनेपर निर्ग्रन्थ संघ उपरान्त संभवतः उन आचार्यकी नाम अपेक्षा 'बलात्कार-गण' के नामसे प्रसिद्ध हुआ था। कहा जाता है कि इसी समय गिरिनार पर्वत पर तीर्थकी वंदना पहले या पीछे करनेके प्रश्नको लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बरोंमें वाद उपस्थित हुआ था। दिगम्बरोंने वहां पर स्थित 'सरस्वती देवी' की मूर्तिके मुखसे कहलवा कर अपनी प्राचीनता और महत्ता स्थापित की थी। इसी कारण उनका संघ 'मूलसंघ सरस्वती गच्छ' के नामसे प्रसिद्ध होगया था।[1] इसके बाद मूलसंघमें श्री कुन्दकुन्द नामके एक महान् आचार्य

---

[1] १–इऐं०, भा० २० पृ० ३४२।

दिगम्बराम्नायकी इन मान्यताओंका आधार केवल मध्यकालीन पट्टावलियां हैं। इसी कारण इन मान्यताओंको पूर्णतया प्रमाणिक मानना कठिन है। परन्तु साथ ही यह भी एक अति साहसका काम होगा, यदि हम इनको सर्वथा अविश्वसनीय कहदें; क्योंकि इनमें जो प्राकृत गाथायें दी गई हैं वह इनकी मान्यताओंको प्राचीन पुष्ट करती हैं। यही कारण है कि डॉ० हॉर्नले सा० ने भी इन पट्टावलियोंको सर्वथा अस्वीकृत नहीं किया था। यदि थोड़ी देरके लिए हम इन पट्टावलियोंकी मान्यताओंको कपोलकल्पित घोषित करदें, तो फिर वह कौनसे प्रमाण और साधन होंगे जिनके आधारसे हम 'मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण, कुन्दकुन्दान्वय' आदि सम्बन्धी विवरण उपस्थित कर सकेंगे! इसलिये हमारे विचारसे इन पट्टावलियोंको हमें उस समय तक अवश्य मान्य करना चाहिये जबतक कि उनका वर्णन अन्य प्रकार अन्यथा सिद्ध न होजाय।

हुए थे। उन्होंने संघमें नवजीवन डाला था। इसीलिये मूल-संघके साधुगण अपनेको 'कुन्दकुन्दान्वयी' घोषित करनेमें गौरवका अनुभव आज पर्यंत करते आये हैं। यह बात भगवान कुन्दकुंदस्वामीके व्यक्तित्वकी महानताको प्रगट करनेके लिये पर्याप्त है। ऐसे आचार्य प्रवरका संक्षिप्त परिचय पाठकोंको अवश्य रुचिकर होगा—आइये, उसकी एक झांकी यहां ले देखें।

आज जैन संघमें अंतिम तीर्थंकर भ० महावीर वर्द्धमान और गणधर गौतमस्वामीके उपरांत भगवान भ० कुन्दकुन्दाचार्य। कुन्दकुन्दको ही स्मरण करनेकी परिपाटी प्रचलित है[1] जिससे कुन्दकुन्दस्वामीके माहात्म्यकी उच्चता स्पष्ट होती है। शिलालेखोंमें उनका नाम कोण्डकुन्द लिखा मिलता है, जिसका उद्गम द्राविड़ भाषासे है। इसीका श्रुतिमधुररूप संस्कृत साहित्यमें कुंदकुंद प्रचलित है।[2] कहते हैं कि इन आचार्यप्रवरका यथार्थ नाम पद्मनंदि था, परन्तु वह कुंदकुंद, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ नामोंसे भी प्रसिद्ध थे।[3] वह कुंडकुन्द नामक स्थानके अधिवासी थे, इसी कारण वह

१—"मंगलं भगवान वीरो मंगलम् गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥"

२—जैन शिलालेखसंग्रह (मा० ग्रं०) भूमिका देखो।

३—एपी० भा० २ मे ६७, ६६, ऐ० भा० २१ पृष्ठ १२९। वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छ नामके दूसरे आचार्य मिलते हैं। इस लिये कुन्दकुन्दस्वामीके ये दोनों नाम विद्वानों द्वारा अस्वीकृत हैं। इसी तरह उनका विदेह-गमन भी संदिग्ध दृष्टिसे देखा जाता है।

कोण्डकुन्दाचार्य नामसे प्रसिद्ध हुए थे। 'बोधपाभृत' में कुन्दकुन्दस्वामीने अपनेको श्री भद्रबाहुस्वामीका शिष्य लिखा है। 'पुण्यास्रव कथा' परसे स्पष्ट है कि दक्षिण भारतके पिदथनाडु प्रांतमें कुरुमरय नामक गांव था, जिसमें कामुण्ड नामक एक मालदार सेठ रहता था। उसकी पत्नी श्रीमती थी। उन्हींके कोखसे भगवान् कोण्डकुन्दका जन्म हुआ था। वह जन्मसे अतिशय क्षयोपशमको लिये हुये था। और युवा होते होते वह एक प्रकाण्ड पण्डित होगये थे। कोण्डकुन्दका गृहस्थ जीवन कैसा रहा यह कुछ ज्ञात नहीं, परन्तु मुनिदीक्षा लेनेपर वह पद्मनन्दि नामसे प्रसिद्ध हुये थे—आचार्य रूपमें यही उनका यथार्थ नाम था। पद्मनन्दि स्वामी महान् ज्ञानवान थे—उस समय उनकी समकोटिका कोई भी विद्वान् न था। विदेहस्थ श्रीमंधरस्वामीके समवशरणमें उनको सर्वश्रेष्ठ साधु घोषित किया गया था और वह स्वयं विदेह देशको श्रीमंधरस्वामीकी वंदना करके ज्ञान प्राप्त करने गये थे। शिवकुमार नामक कोई नृप उनके शिष्य थे।[1] उन्होंने भारतमें जैन धर्मका खूब ही उद्योत किया था। उनका समय ईस्वी प्रथम शताब्दिके लगभग था। द्राविड संघसे भी उनका सम्बन्ध था। आखिर वह दक्षिणके ही नर रत्न थे। कहते हैं कि उन्होंने ८४ पाहुड ग्रंथोंकी रचना की थी, परन्तु

विशेषके लिये प्रो० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित "प्रवचनसार" की अंग्रेजी भूमिका तथा प० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी उसकी समालोचना (जैसिभा० भा० ३ पृ० ९३) देखना चाहिए।

[1] प्रो० चक्रवर्तीने इन्हें पल्लववंशके शिवस्कन्धकुमार बताया है। —प्रसा० भूमिका पृ० २०।

इस समय उनके रचे हुए निम्नलिखित ग्रंथ मिलते हैं—

(१) दशभक्ति, (२) दंसणपाहुड़, (३) चारित्तपाहुड़, (४) सुत्तपाहुड़, (५) बोधपाहुड़, (६) भावपाहुड़ (७) मोक्खपाहुड़ (८) लिंगपाहुड़, (९) शीलपाहुड़ (१०) रयणसार (११) बारस-अणुपेक्खा (१२) नियमसार (१३) पञ्चास्तिकायसार (१४) समयसार, (१५) प्रवचनसार।

कुरल।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके उपरोक्त सब ही ग्रन्थ प्राकृत भाषामें रचे गये थे और दिगम्बर जैन संघके लिये एक अमूल्य निधि हैं। किन्तु इन आचार्यने तामिलभाषामें भी ग्रन्थरचना की थी, किन्तु खेद है कि इस समय उनकी कोई भी तामिल-रचना उपलब्ध नहीं है। अलबत्ता तामिलके अपूर्व नीतिग्रंथ कुरल के विषयमें कहा जाता है कि वह भी कुन्दकुन्दाचार्यकी ही रचना है। तामिल लोग इस ग्रन्थको अपना 'वेद' मानते हैं और वह है भी सर्वमान्य। जैन वैष्णव शैव बौद्ध—सब ही उसकी विश्वास प्रभावित हुये थे और सब ही उसे अपना पवित्र ग्रन्थ प्रगट करते हैं परन्तु विद्वानोंने खोजके पश्चात् उसे श्री कुन्दकुन्दस्वामीकी ही रचना ठहराया है।[1] जैन ग्रन्थ नीलकेसी के टीकाकार उसे जैन ग्रंथ ही प्रगट करते हैं।[2] वस्तुतः 'कुरल'में निम्नलिखित ऐसी बातें हैं जो उसे सर्वथा

---

[1] १—साइंजै० भा० १ पृ० ४०-४१। 'Kural was certainly composed by a Jain."—Prof. M. S. Ramaswami Iyengar SSIJ., I 89

[2] २—नीलकेसीकोषमें इसे 'एमोत्तु आगम्' 'हमारा वेद' कहा है।

एक जैनाचार्यकी ही रचना प्रमाणित करते हैं —

(१) कुरलमें (परिच्छेद १) पहले ही मंगलस्तुति रूपमें 'अ' वर्णका स्मरण करते हुये उसे शब्दलोकका मूल स्थान और आदि-ब्रह्मको लोकोंका मूल स्रोत कहा है, जो जैन मान्यताके अनुकूल है। जैन शास्त्रोंमें 'अ' वर्णका शाब्दिक और सांकेतिक महत्व खूब ही प्रतिपादित किया गया है। 'ज्ञानार्णव' में 'अ' वर्णको ५०० बार जपना एक उपवासके तुल्य बताया है। (वृजैश० भा० १ पृ० १-२)

(२) पहले परिच्छेदमें उपरान्त एक सर्वज्ञ परमेश्वर जिसने कमलों पर गमन किया (मलर्मिसइयेगिनान) और जो आदि पुरुष है तथा जो न किसीसे प्रेम करता है और न घृणा एवं जो जितेन्द्रिय है, उसकी वंदना करनेका विधान है। जैन ग्रन्थोंमें आप्तके जो लक्षण बताये गये हैं उनमें उसे सर्वज्ञ—रागद्वेष रहित और वीतराग खास रीतिसे बताया गया है।[1] इस कल्पकालमें आदितीर्थङ्कर, आदिनाथ या ऋषभदेव मुख्य आप्त हैं, इसी लिये शास्त्रोंमें उन्हें आदि पुरुष भी कहा गया है।[2] 'कुरल' के रचयिता भी उन्हींका स्मरण करतेहैं। वह सर्वज्ञ तीर्थंकर रूपमें जब विहार करते थे तब देवेंद्र उनके पग तले कमलोंकी रचना करता जाता था। और वह उसपर गमन करते थे।[3] यह विशेषता जैन तीर्थङ्करकी खास है। 'कुरल'के कर्त्ता उसका उल्लेख करके अपना मत स्पष्ट कर देते हैं।

(३) आगे इसी परिच्छेदमें 'कुरल' के रचयिता अर्हन्त या

---

[1] Divinity in Jainism देखो। [2] जिनसहस्र नाम देखो।
[3] आपु० पर्व २२–२३।

तीर्थंकर भगवानका स्मरण करके सिद्ध परमात्माका स्मरण करते हैं और उन्हें आठ गुणोंसे अभिभूत परमब्रह्म (जन्य-मोचन) बताते हैं। जैन ग्रंथोंमें परमात्मा सिद्ध परमात्माको निम्नलिखित आठ गुणोंसे युक्त बतलाया गया है:-(१) क्षायिक सम्यक्त्व (२) अनन्तदर्शन, (३) अनन्तज्ञान, (४) अनन्तवीर्य (५) सूक्ष्मत्व (६) अवगाहनत्व (७) अगुरुलघुत्व, (८) अव्याबाधत्व¹ अतएव परमात्माके यह आठ गुण मान्य ही हैं।

(३) तीसरे परिच्छेदमें संन्यासमार्गी पुरुषोंकी महिमाका वर्णन है। उसमें उनको सर्वत्यागी स्वामी और पांचों इन्द्रियोंको वशमें रखकर तापसिक जीवन व्यतीत करनेवाला लिखा है। इन्द्रियविषय क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध बताये हैं। साथ ही साधु महात्मा पुरुषोंहीको ब्राह्मण कहा है। जैनधर्ममें साधु सर्वत्यागी, इन्द्रियनिरोधी तपस्वी कहा गया है। इन्द्रियोंकी संख्या और उनका विषय भी जैन मान्यतानुसार है।² खास बात यह है कि ऐसा साधु जैन दृष्टिसे एक सच्चा ब्राह्मण है। "कुरल" में यही प्रकट किया गया है।

(४) चौथे परिच्छेदमें धर्मका फल मोक्ष और धर्म अपने मनको पवित्र रखनेमें बताया है। उससे आगामी जन्मोंका मार्ग बन्द होजाता है। 'भावपाहुड' में श्री कुन्दकुन्दाचार्यने इसी प्रकार मन शुद्धिका विधान किया है। जैन सिद्धांतमें पुण्य-पापका माप मनुष्यके भावोंसे ही लिया जाता है।

१–जैनसि० भा० १ पृ० ९४। २ [illegible] भा० १ पृ० ९७।

(६) पांचवें परिच्छेदमें गृहस्थ जीवनके लिये देवपूजा, अतिथि-सत्कार, बन्धु-बांधवोंकी सहायता और आत्मोन्नति करना आवश्यक बताया है।[1] भगवत् कुंदकुंदस्वामीने भी देवपूजा करना और दान देना तथा आत्मोन्नति करना एक गृहस्थके लिये मुख्य कर्म बताये हैं।

(७) नवें परिच्छेदमें अतिथिको भोजन देने और मेहमानदारीका विधान है। जैन शास्त्रोंमें गृहस्थके लिये एक अलग 'अतिथि संविभाग' व्रत है।

(८) उन्नीसवें परिच्छेदके अंतिम पदमें 'कुरल' मनुष्यको निज दोषोंकी आलोचना करनेका उपदेश देता है। जैनधर्ममें प्रत्येक गृहस्थके लिये प्रतिक्रमण—दोषोंके लिये आलोचनादि करना लाजमी है।

(९) बीसवें परिच्छेदमें छायाकी तरह पाप कर्मोंको मनुष्यके साथ लगा रहते और सर्वस्व नाश करते बताया है, जो सर्वथा जैन मान्यताके अनुकूल है। मरने पर भी जन्मान्तरों तक पाप कर्म मृतात्मासे लिप्त रहकर उसको कष्टका कारण बनते हैं, यह जैन मान्यता सर्वविदित है।

(१०) पचीसवें परिच्छेदमें जैन शास्त्रोंके सदृश ही निरामिष भोजनका उपदेश है। यदि कुरलका रचयिता जैन न होकर वैदिक ब्राह्मण अथवा बौद्ध होता तो वह इस प्रकार सर्वथा मांस—मदिरा त्याग करनेका उपदेश नहीं दे सकता था, क्योंकि उन लोगोंमें इनका सर्वथा निषेध नहीं है।[2]

---

[1] तत्वार्थाधिगम सूत्र। [2] ममम०, पृ० १२—३७।

(११) तीसवें परिच्छेदमें अहिंसाको सब धर्मोंमें मुख्य कहा है और इसके बाद सत्यको बताया है। जैन दर्शनमें भी अहिंसाकी ही विशेषता है। इसी परिच्छेदमें पशुहिंसाका भी निषेध है।

(१२) पैंतीसवें परिच्छेदमें त्यागका उपदेश देते हुये यही उनके अपने पास कुछ भी न रखनेका विधान है—इसके लिए तो यह शरीर भी अनावश्यक है। जैनधर्म भी तो यही कहता है।

(१३) अस्सीवें परिच्छेदमें कहा गया है कि उच्च कुलमें जन्म लेनेसे ही कोई उच्च सज्जन नहीं होसकता और उनसे नीच होनेपर भी जो नीच नहीं है वह नीच नहीं होसकते। जैन शास्त्रोंमें पग-पग पर यही उपदेश भरा मिलता है।[1] भगवत् कुन्दकुन्द स्वामिने भी इसी बातका उपदेश दिया है।[2]

यह एवं ऐसी ही अन्य बातें इस बातको प्रमाणित करती हैं कि 'कुरल' के रचयिता एक जैनाचार्य थे, जिन्हें विद्वान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य बताते हैं। इस प्रकार भगवत् कुन्दकुन्दके पवित्र जीवनकी रूपरेखा है।

भ० उमास्वाति। उनके पश्चात् जैन संघमें भगवान् उमास्वातिका विशद और विशुद्ध व्यक्तित्व मिलता है। जिस प्रकार भगवान् कुन्दकुन्दकी मान्यता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों

---

[1] १—पतितोद्धारक जैनधर्म देखो।

[2] २—णवि देहो वंदिज्जइ णवि य कुलो णवि य जाइसंजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु समणो णेव सावओ होइ॥२७॥

सम्प्रदायोंके लोगोंमें थी, उसी प्रकार भगवत् उमास्वाति भी दोनों सम्प्रदायों द्वारा मान्य और पूज्य थे । दिगम्बर जैन साहित्यमें उन्हें भगवान् कुन्दकुन्दका वंशज प्रगट किया गया है और उनका दूसरा नाम गृद्धपिच्छाचार्य भी लिखा है।[१] किन्तु उनके गृहस्थ जीवनके विषयमें दिगम्बर शास्त्र मौन हैं। हां, श्वेताम्बरीय 'तत्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य' में उमास्वाति महाराजके विषयमें जो प्रशस्ति मिलती है, उससे पता चलता है कि उनका जन्म न्यग्रोधिका नामक स्थानमें हुआ था और उनके पिता स्वाति और माता वात्सी थीं। उनका गोत्र कौभीषणि था । उनके दीक्षागुरु श्रमण घोषनंदि और विद्यागुरु वाचकाचार्य मूल नामक थे । उन्होंने कुसुमपुर नामक स्थानमें अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' रचा था।[२] दोनों ही संप्रदायोंमें उमास्वातिको 'वाचक' पदवीसे अलंकृत किया गया है।[३] श्वेताम्बरोंकी मान्यता है कि उन्होंने पांचसौ ग्रंथ रचे थे और

---

[१] र०श्रा० स्वामी समन्तभद्र पृष्ठ १४४ एवं 'श्लोकवार्तिक' का निम्न कथन—

" एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण ।
व्यभिचारिता निरस्ता प्रकृतसूत्रे ॥ "

भ० कुंदकुंदका भी एक नाम गृद्धपिच्छाचार्य था । शायद यही कारण है कि श्रवणबेलगोलके किन्हीं शिलालेखोंमें भ० कुंदकुंद और भ० उमास्वातिको एक ही व्यक्ति गलतीसे लिख दिया है । (इका० भा० २ पृ० १६) । [२] अनेकान्त, वर्ष १ पृष्ठ ३८७ ।

[३] पूर्व पृ० ३९४–३९९ एवं " जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय " का निम्न श्लोकः—

इस समय तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके अतिरिक्त जम्बूद्वीप समास प्रकरण श्रावक प्रज्ञप्ति क्षेत्रविचार, प्रशमरति और पूजा प्रकरण' नामक ग्रंथोंको उनकी रचना बताते हैं, परन्तु विद्वज्जन केवल 'प्रशम रति' को भ० उमास्वातिकी रचना होना प्रायः समझते हैं।[1] इससे प्रगट है कि भ० उमास्वाति अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने जैन आगममें प्रसिद्ध सैद्धांतिक एवं खगोल भूगोल आदि सब ही विषयोंका संक्षिप्त वर्णन करके 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्रमें' भर दिया है यही कारण है कि उनका यह ग्रन्थराज आज "जैन बाइबिल" के नामसे प्रसिद्ध है। प्राकृत संस्कृत भाषा में जैनोंकी यही सबसे पहली उल्लेखनीय रचना है। इसकी उत्पत्तिके विषयमें कहा जाता[2] है कि सौराष्ट्रके गिरिनगर (जूनागढ़) नामक स्थानमें आसन्न-भव्य द्विज कुलोत्पन्न श्वेताम्बरभक्त एक 'सिद्धय्य' नामका विद्वान् श्रावक रहता था। उसने "दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" यह एक सूत्र रचा और उसे पाटियेपर लिख छोड़ा। एक समय चर्याके लिये गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति नाम धारक आचार्य वहां आये। उन्होंने यह सूत्र देखकर उसमें 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया। सिद्धय्यने जब यह देखा तो वह उन आचार्यके पीछे भागा और उन्हें ढूंढ़कर उनसे इस 'मोक्षशास्त्र' को रचनेके लिए प्रार्थी हुआ। आचार्य

"पुष्पदन्तो भूतबलिः जिनचन्द्रो मुनिः पुनः।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रोमास्वातिवाचकसंज्ञिते॥"

० (अनेकान्त पृ ३ १ फुटनोट)

१—अनेकान्त, वर्ष १ पृ १९४।

२— तत्त्वार्थदीपिका —अनेकान्त वर्ष १ पृ १७०।

महाराजने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार की और 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' को रच दिया। 'सिद्धय्य' के निमित्तसे इस ग्रंथके रचे जानेका उल्लेख संभवतः 'सर्वार्थसिद्धि' टीकामें भी है।[1] निस्सन्देह सिद्धय्यके निमित्तसे रचा हुआ यह ग्रन्थराज जैनसिद्धान्तकी अमूल्य निधि है। यही कारण है कि उपरान्त जैनाचार्योंने भ० उमास्वातिका स्मरण बड़े ही सम्माननीय रीतिसे किया और उन्हें 'श्रुतकेवलि देशीय' एवं 'गुणगंभीर' भी लिखा।[2] श्रुतसागरजीने उनका श्रुतिमधुर नाम उमास्वामी रख दिया और तबसे दिगम्बरोंमें इसीका प्रचार होगया, परन्तु प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें उनका नाम उमास्वाति मिलता है। भ० उमास्वाति संभवतः श्री कुन्दकुन्दाचार्यके प्रशिष्य थे। इसलिये एवं उनकी सैद्धांतिक विवेचनाशैलीसे, जिसका साम्य 'योगसूत्र' आदिसे है, स्पष्ट है कि वह ईस्वी पहली शताब्दिके विद्वान् थे।[4]

श्री समन्तभद्र-स्वामी।

समयानुकूल भ० उमास्वातिके पश्चात् उल्लेखनीय आचार्य श्री समंतभद्रस्वामी हैं। दिगम्बर विद्वानोंके लिये वह स्तवनार्ह और प्रमाणभूत हैं ही परन्तु 'श्वेताम्बर विद्वानोंने भी उनकी प्रमाणिकताको खुले दिलसे स्वीकार

१—अनेकान्त, वर्ष १ पृ० १९७।

२—तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरं।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमंदिरम्॥ अनेकान्त पृ० २९९

३—अनेकान्त, पृ० २९९। ४—पूर्व० पृष्ठ ३८९-३९२।

किया है।' श्री शुभचन्द्राचार्यजीने उन्हें 'भारतभूषण' कहा है। श्री समन्तभद्राचार्यजीके गृहस्थ जीवनके विषयमें कहा जाता है कि उरगपुरके उन्होंने क्षत्रियराजके घरको अपने जन्मसे सुशोभित किया था। यह विदित नहीं कि उनके पिता और माताके नाम क्या थे; परंतु यह ज्ञात है कि उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुरके क्षत्री नृप थे। स्वामी समन्तभद्रका बाल्यकाल जैनधर्मके केंद्रस्थान इस उरगपुरमें व्यतीत हुआ था। इस समय यह दाक्षिणात्योंके धर्मसे प्रभावित थे। उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया था यही यह स्पष्ट नहीं, किन्तु यह स्पष्ट है कि वह बाल्यकालसे ही जैनधर्म और जिनेन्द्रदेवके अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपने आपको धर्मार्थ अर्पण कर दिया था। कांचीपुर या उसके सन्निकट कहीं उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण की थी और वही (कांचीपुरम्) उनके धर्मकार्योंका केन्द्र था। 'राजावलीकथे' में उनका चरित्र अनेक प्रकार वर्णन किया है। उन्होंने स्वयं कहा है कि "मैं कांचीका नग्न साधु हूं।" (कांच्यां नग्नाटकोऽहं) परन्तु उनके गुरुकुलका परिचय प्राप्त नहीं है। यह स्पष्ट है कि वह मूलसंघके प्रधान आचार्य थे। भवितव्यवश उनको अपने साधुजीवनमें 'भस्मव्याधि' नामक दुस्सह रोग होगया था। वह मनों भोजन खाजाते थे मगर तृप्ति नहीं होती थी। इस व्याधिको शमन करनेके लिये उन्होंने एक वैष्णव सन्यासीका भेष धारण कर लिया था। कांचीमें उस समय शिवकोटि नामक राजा राज्य करता था और उसका 'भीमलिंग' नामक शिवालय था। समन्तभद्रजी इसी शिवालयमें पहुंचे और उन्होंने राजाको अपना भक्त बना लिया। वहां अन्नका प्रसाद शिवार्पणके लिये आता। समन्तभद्रजीने उसको

सानन्द अपनी जठराग्नि शान्त की और मंदिरके बाहर आ राजाको आशीर्वाद दिया। राजा प्रसन्न हुआ और प्रतिदिन सवा मनका प्रसाद शिवार्पणके लिये भेजने लगा। समन्तभद्रजी उसके द्वारा अपनी व्याधिको शमन करते रहे, किन्तु जब व्याधिका जोर कम हुआ तो उस प्रसादमेंसे कुछ बचने लगा। उधर कुछ लोग उनके विरुद्ध हो रहे थे-उन्होंने पता लगाकर राजासे शिकायत कर दी कि महाराज, यह साधु शिवजीको कुछ भी प्रसाद अर्पण नहीं करता, बल्कि सब कुछ स्वयं खा जाता है और शिवलिङ्ग पर पैर पसार कर सोता है। राजाके विस्मय और रोषका ठिकाना न रहा। उसने शिवालयमें आकर समंतभद्रजीसे यह आग्रह किया कि वह प्रसाद शिवजीको उनके सामने खिलावें और शिवलिङ्गको प्रणाम भी करें।

समंतभद्रजीके लिये यह परीक्षाका समय था, क्योंकि उन्होंने आपत्तिकालमें वैष्णवमतका भेष अवश्य धारण किया था परन्तु हृदयमें वह दृढ़ सम्यक्त्वी थे। उनके रोम-रोममें जैनत्व समाया हुआ था। आखिर उन्होंने दृढ़तापूर्वक राजाकी आज्ञाको शिरोधार्य किया। और प्रवाहरूपमें उन्होंने 'स्वयंभूस्तोत्र'की रचना और उच्चारण करना आरम्भ किया। जिस समय वह चन्द्रप्रभ भगवानका स्तोत्र पढ़ रहे थे उसी समय शिवलिङ्गमेंसे चन्द्रप्रभकी मूर्ति प्रगट हुई। इस अद्भुत घटनाको देखकर सब ही लोग आश्चर्यचकित होगये। राजा शिवकोटि अपने छोटे भाई शिवायन सहित उनके चरणोंमें गिर पड़ा और जैनधर्ममें दीक्षित हुआ। उसके साथ उसकी प्रजाका बहुभाग भी जैनी होगयी थी। अब समंतभद्रजीका रोग शांत होगया था। उन्होंने अपने [illegible] जाकर प्रायश्चित्तपूर्वक पुनः दीक्षा ग्रहण की। वह धर्म

बढ़कर एवं लोकहितके कार्यमें निरत होगए। उन्होंने घोर तप तथा ध्यान ज्ञान द्वारा अपार शक्तिको संचय किया था। फलतः वह आचार्य हुये और लोग उन्हें जिनशासनका प्रणेता कहने लगे थे।

जैन सिद्धांतके मर्मज्ञ होनेके सिवाय वह तर्क, व्याकरण, छंद, अलंकार काव्य कोषादि ग्रंथोंमें पूर्ण निष्णात थे। वह संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी तामिल आदि भाषाओंके विद्वान् थे परन्तु उनके द्वारा दक्षिण भारतमें संस्कृत भाषाको जो प्रोत्तेजन और प्रोत्साहन मिला था वह अपूर्व था। उनकी वादशक्ति अप्रतिहत थी। उन्होंने कई बार जैसे भेरी और डंके बजाकर देशके इस छोरसे उस छोरतक घूमकर मिथ्यावादियोंका गर्व खंडित किया था। वह महान् योगी थे और उनको 'चारण ऋद्धि' प्राप्त थी जिसके कारण वह अन्य जीवोंको बाधा पहुंचाये बिना ही सैकड़ों कोसोंकी यात्रा शीघ्रतासे कर लेते थे। एकबार वह करहाटक नगर (जिला सतारा) में पहुंचे थे और वहांके राजापर अपने वाद प्रयोजनको प्रगट करते हुए उन्होंने कहा था कि:—

'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरीवैदिशे।

प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥'

इससे प्रगट है कि करहाटक पहुंचनेसे पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलिपुत्र नगर, मालवा, सिंधु ठक्क (पंजाब) देश कांचीपुर और वैदिश ये

प्रधान देश तथा जनपद थे। इनमें उन्होंने वाद करके धर्मप्रभावनाका प्रचार किया था। अपनी लोकहितकारी वाक्गिरा द्वारा उन्होंने प्राणीमात्रका हित साधा था। केवल वाणीसे ही नहीं बल्कि अपनी लेखनी द्वारा भी उन्होंने अपनी लोकहितैषिणी वृत्तिका परिचय दिया है। उनकी निम्नलिखित अपूर्व रचनायें बताई जाती हैं.-

१-आप्तमीमांसा, २-युक्त्यनुशासन, ३-स्वयम्भूस्तोत्र, ४-जिनस्तुति शतक, ५-रत्नकांडक उपासकाध्ययन, ६-जीवसिद्धि, ७-तत्वानुशासन, ८-प्राकृत व्याकरण, ९-प्रमाणपदार्थ, १०-कर्मप्राभृत टीका और ११-गन्धहस्तिमहाभाष्य।

खेद है कि स्वामी समंतभद्रजीके अंतिम जीवनका ठीक पता नहीं चलता। पट्टावलियोंसे उनका अस्तित्व समय सन् १३८ ई० प्रगट होता है। प्रो० श्री नरसिंहाचार्यजीने भी उन्हें ईस्वी दूसरी शताब्दिका विद्वान् इस अपेक्षा बताया है कि श्रवणबेलगोलकी मल्लिषेणप्रशस्तिमें उनका उल्लेख गङ्गराज्य संस्थापक सिंहनंदि आचार्यसे पहले हुआ है, जिनका समय ई० दूसरी शताब्दिका अंतिम भाग है। इसी परसे स्वामी समंतभद्रजीकी जन्म और निधन तिथियोंका अंदाज लगाया जासकता है।[1]

इस प्रकार तत्कालीन दक्षिण भारतीय जैन संघके यह चमकते हुये रत्न थे। इनके अतिरिक्त श्री पुष्पदन्त, भूतबलि, माघनन्दि आदि आचार्य भी उल्लेखनीय हैं; परन्तु उनके विषयमें कुछ अधिक परिचय प्राप्त नहीं है।

---

[1] १-विशेषके लिये श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार कृत "स्वामी समन्तभद्र" और "वीर" वर्ष ६ का "समन्तभद्राङ्क" देखो।

बा० कामताप्रसादजी कृत ऐतिहासिक ग्रन्थ—

भगवान् महावीर।

यह ग्रन्थ अनेक जैनाचार्य तथा जितने ही भारतीय और पाश्चात्य ऐतिहासज्ञ विद्वानोंके २१ ग्रन्थोंकी सहायतासे लिखा गया है। इसमें वीर भगवानके विस्तृत जीवनके अतिरिक्त भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ और पार्श्वनाथका भी वर्णन है। अंतमें बुद्ध, महावीर एवं महावीरकी सर्वज्ञताका प्रमाण भी दिये गये हैं। पृ० २८० पक्की जिल्द २) कच्ची जिल्द १॥)

भगवान् पार्श्वनाथ।

इसमें भगवान् पार्श्वनाथका विस्तृत जीवन ऐतिहासिक रीतिसे नवीन खोजपूर्ण लिखा गया है। तथा यह सिद्ध किया है कि भ० पार्श्वनाथ ऐतिहासिक थे, वे जैन धर्मके स्थापक नहीं थे। जैन धर्मकी प्राचीनता, पुरातत्वकी साक्षी, बौद्ध ग्रन्थ, वेद, हिन्दुपुराण, रामायण, महाभारत, और उपनिषदोंमें जैनधर्मका उल्लेख है। इस ग्रन्थका जैन अजैनोंमें प्रचार करना योग्य है। पृ० ५०० व मूल्य २॥)

मैनेजर, दिगम्बर जैनपुस्तकालय—सूरत।

बा० कामताप्रसादजी कृत-

भ० महावीर और म० बुद्ध।

इसमें भ० महावीर और महात्मा बुद्धका तुलनात्मक पद्धतिसे विवेचन किया गया है। वीर और बुद्धके भेदका ज्ञान प्राप्त करना हो तो इस ग्रन्थको अवश्य पढ़िये। पृ० २७२ मू० १॥)

वीर पाठावलि।

इसमें भ० ऋषभदेव सम्राट् भरत, राम-लक्ष्मण, कृष्ण, नेमिनाथ, भ० पार्श्वनाथ, भ० महावीर, सम्राट् चन्द्रगुप्त, वीर संघकी विदुषियां, भ० कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, सम्राट् खारवेल, स्वामी समंतभद्र सिद्धांत-चक्रवर्ति श्री नेमिचन्द्राचार्य, भट्टाकलंक देव आदिके २० ऐतिहासिक चरित्र वर्णित किये गये हैं। पृ० १२५ मूल्य ॥।) व विद्यार्थियोंको ॥)

पंच-रत्न।

इसमें महाराज श्रेणिक, सम्राट् महानन्द कुरुपाधीश्वर, नृप विज्जलदेव और सेनापति वेचप्प ऐसे पांच चरित्र उपन्यास ढंगसे हैं। मूल्य ।=)

नव-रत्न।

इसमें अरिष्टनेमि, चन्द्रगुप्त खारवेल, चामुण्डराय, मारसिंह, गंगराज, हुल्ल, सावियव्वे और सती रानी ऐसे ९ ऐतिहासिक चरित्र हैं। मूल्य ।=)

मैनेजर, दिगम्बरजैनपुस्तकालय-